भक्तिशास्त्र के आधार पर रामचरितमानस का विश्लेषण

BHAKTISASTRA KE ADHAR PAR RAMCHARITMANAS KA VISLESHAN

Thesis submitted to

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

for the degree of

Doctor of Philosophy

By

AMITHABHAN K.

G5627

Supervising Teacher

Dr. L. SUNEETHA BAI

Head of the Department

Dr. M. EASWARI

DEPARTMENT OF HINDI

COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY

KOCHI - 682 022

1995

DECLARATION

I hereby declare that the thesis entitled **BHAKTISASTRA KE ADHAR PAR RAMCHARITMANAS KA VISLESHAN** is an original work carried out by me under the supervision of Dr. L. Suneetha Bai, Professor, Department of Hindi, Cochin University of Science and Technology. I also declare that no part of this work has hitherto been submitted for a degree in any University.

K. Amithabhan

Kochi - 682022
15.9.1995

AMITHABHAN K.

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis is a bonafide record of work carried out by Sri.K.Amithabhan under my supervision for Ph.D. and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any University.

Dr. L.Suneetha Bai
(Supervising Teacher)

Department of Hindi,
Cochin University of
Science and Technology,
Kochi - 682022.
Date: 15-9-1995

प्राक्कथन

अतिप्राचीन काल से लेकर भारत अपनी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि के लिए प्रसिद्ध रहा है । वेद काल से लेकर अपने इतिहास के समस्त काल खण्डों में भारत ने ऐसे आचार्यों की सृष्टि की है जिन्होंने परम सत्ता तथा मानव जीवन के चरम लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त किया था । उनकी रचनाओं का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि भक्ति अथवा ईश्वर के प्रति परम प्रेम की मीमांसा प्रत्येक काल खंड में आचार्यों ने की है । वैदिक साहित्य में भक्ति के तत्व विद्यमान हैं । बाद में इतिहास, पुराण, आगम आदि अन्य शास्त्र-ग्रंथों ने सगुण-साकार ईश्वर तथा उनके अवतारों की भक्ति की विशद चर्चा प्रस्तुत की । नारद और शांडिल्य जैसे ऋषियों ने भक्तिसूत्रों की रचना की । रूप गोस्वामी की भक्तिरसामृतसिंधु जैसी ग्रंथों की रचना 15 वीं शताब्दी में भी हुई है । इन प्रामाणिक रचनाएँ - जो भक्तिशास्त्र कहलाती हैं - भक्ति के स्वरूप, प्रकार, साधनाएँ, महत्व आदि का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करती हैं । श्रीमद्भगवद्गीता श्रीमद्भागवत, शांडिल्य भक्तिसूत्र, नारद भक्तिसूत्र एवं भक्तिरसामृतसिंधु भक्तिशास्त्र की सर्वप्रमुख रचनाएँ हैं ।

हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्यकाल के प्रायः सभी प्रमुख कवियों ने भक्तिपरक रचनाएँ ही की हैं । सन्त कबीर, महात्मा सूरदास, गोस्वामी तुलसीदास, मीराबाई आदि इस समय के प्रमुख कवि हैं । उनकी रचनाएँ मुख्य रूप से ईश्वर तथा उनकी भक्ति से संबंधित है । इसलिए हिन्दी साहित्य के इतिहास में यह काल भक्तिकाल नाम से जाना जाता है । इस समय के भक्ति काव्यों में भक्ति से संबंधित सारी बातें विशद रूप से चर्चित हुई हैं । इनमें

भक्ति का स्वरूप, भक्ति के भेद, उसका महत्व, भक्ति साधनाएँ आदि आते हैं, जो भक्तिशास्त्र के भी प्रमुख विषय हैं । हिन्दी के भक्तिकालीन कवि भक्ति शास्त्र से अवश्य प्रभावित थे । सन्त कबीर अपने दर्शन के अनुसार निराकार ईश्वर की चर्चा करते हुए निर्गुण भक्ति प्रस्तुत करते हैं । सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई आदि सगुण भक्त थे । उन्होंने भी अपनी रचनाओं में भक्ति की विशद चर्चा प्रस्तुत की है । इन सारे कवियों में भक्ति -मीमांसा की बात में गोस्वामी तुलसीदास ही अद्वितीय हैं । तुलसी की रचनाओं में भक्ति से संबंधित विषयों की चर्चा जिस समग्रता एवं सूक्ष्मता से आयी है, वह उल्लेख करने योग्य है । उनकी रचनाओं में भी रामचरितमानस इस विषय में बाकी सब के आगे हैं । अनेक पात्रों से युक्त महाकाव्य होने के कारण भक्ति से संबंधित विभिन्न बातों का समग्र एवं सूक्ष्म वर्णन इसमें संभव हुआ है ।

तुलसीदास ने रामचरितमानस को "नानापुराणनिगमागमसम्म बताया है । इससे रामचरितमानस पर संस्कृत के विभिन्न ग्रंथों का प्रभाव स्पष्ट है । रामचरितमानस एवं तुलसीदास पर शोध कार्य करके विद्वानों ने इस प्रभाव का अध्ययन भी प्रस्तुत किया है । उदाहरणार्थ, डा गनैरी महतो का "रामचरितमानस नानापुराणनिगमागमसम्मत" नामक शोध प्रबन्ध द्रष्टव्य है । डा. बलदेव प्रसाद मिश्र का "तुलसी-दर्शन", डा. उदयभानु सिंह का "तुलसी दर्शन मीमांसा", श्री हरस्वरूप मथुर का "भारतीय साधना और संत तुलसी", डा. सत्यनारायण शर्मा का "रामचरितमानस में भक्ति" आदि ग्रंथ भी मानस पर दूसरे शास्त्र ग्रंथों का अध्ययन प्रस्तुत करते हैं । मानस की भक्ति की चर्चा करते वक्त इन ग्रंथों में भक्तिशास्त्र के विभिन्न ग्रंथों को प्रमाण रूप में प्रस्तुत भी किया गया है । अर्थात् श्रीमद् भगवद्गीता, श्रीमद् भागवत, शांडिल्य भक्तिसूत्र, नारद भक्तिसूत्र, भक्तिरसामृतसिंधु आदि ग्रंथों की उक्तियों को

यथास्थान उद्धृत किया गया है । परंतु पूर्ण रूप से इन भक्तिशास्त्र ग्रंथों के आधार पर रामचरितमानस की भक्ति के स्वरूप, महत्व, प्रकार आदि का अध्ययन किसी ने भी प्रस्तुत नहीं किया है । संस्कृत के भक्तिशास्त्र ग्रंथों का अध्ययन करते हुए मुझे लगा कि भक्तिशास्त्र में प्रतिपादित भक्ति और मानस में वर्णित भक्ति में अद्भुत समानता है । भक्तिशास्त्र में प्रतिपादित समस्त तत्वों के दर्शन मानस में होते हैं । अतः भक्तिशास्त्र के ग्रंथों के आधार पर रामचरितमानस का विश्लेषणात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना मेरा उद्देश्य रहा है । "भक्तिशास्त्र के आधार पर रामचरितमानस का विश्लेषण" नामक यह प्रबंध मेरे इसी आग्रह की पूर्ति का प्रयास है ।

यह प्रबंध पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है । प्रथम अध्याय "भक्तिशास्त्र - सामान्य परिचय" है । इसमें संस्कृत आध्यात्मिक साहित्य में भक्ति के तत्वों के दर्शन कराकर भक्तिशास्त्र का परिचय कराया गया है । श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद् भागवत, शांडिल्य भक्तिसूत्र, नारदभक्तिसूत्र, और भक्तिरसामृतसिंधु का परिचय देकर उनमें वर्णित भक्ति की विशद चर्चा इस अध्याय में की गई है ।

"हिन्दी भक्तिसाहित्य और तुलसीदास" नामक द्वितीय अध्याय में हिन्दी भक्ति साहित्य का संक्षिप्त परिचय देकर तुलसी साहित्य तथा रामचरितमानस की विशेषताएँ बताई गई हैं । इनमें भक्तिशास्त्र की विभिन्न बातें कहाँ तक आई हैं, यह भी दिखाने का प्रयास इस अध्याय में हुआ है ।

तृतीय अध्याय "रामचरितमानस में भक्ति का स्वरूप" है । इसमें भक्तिशास्त्र के सिद्धांतों के आधार पर मानस की भक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है ।

"रामचरितमानस में भक्ति के प्रकार" नामक चतुर्थ अध्याय में भक्तिशास्त्र-प्रतिपादित तत्वों के आधार पर मानस में वर्णित भक्ति का वर्गीकरण किया गया है । पहले पराभक्ति के तथा बाद में गौणी भक्ति के भेद चर्चित हुए हैं ।

पंचम अध्याय "भक्तिसाधनाएँ तथा भक्ति का महत्व" है । भक्तिशास्त्र में जितनी ही भक्तिसाधनाएँ बताई गई हैं उन सब के उदाहरण रामचरितमानस में दिखाकर भक्ति साधना का महत्व स्पष्ट करने का प्रयास इस अध्याय में हुआ है । अध्याय के अंत में पराभक्ति के महत्व की भी चर्चा की गई है ।

अंततः उपसंहार में इस विश्लेषण के निष्कर्ष अंकित किए गए हैं ।

प्रस्तुत प्रबंध से संबंधित शोधकार्य मैं ने कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग में किया है । इस विभाग की अध्यक्षा डा. एम. ईश्वरी ने इस शोधकार्य में मुझे प्रोत्साहन दिया है ।

विभाग की प्रोफ़सर डा. एल. सुनीताबाई इस शोधकार्य में मेरी निर्देशिका रही हैं । इनके प्रति मैं विशेष आभार प्रकट करता हूँ । इस शोधकार्य में विभाग के पुस्तकालय से मैं ने काफी सहायता प्राप्त की है । पुस्तकालय के अध्यक्ष एवं विभाग के अन्य सभी प्राध्यापक मेरे लिए इस कार्य में प्रेरक एवं सहायक रहे हैं । उन सब के प्रति मैं आभार प्रकट करता हूँ ।

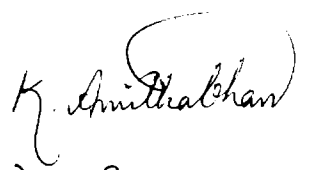

के. अमिताभन

हिन्दी विभाग,
कोचिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी
विश्वविद्यालय.
कोचिन - 682022.

विषय-सूची

	पृष्ठ संख्या
प्राक्कथन	I - V
प्रथम अध्याय	1 - 55

भक्तिशास्त्र - सामान्य परिचय

भक्तिशास्त्र क्या है - वेदों में भक्ति - उपनिषदों में भक्ति - वाल्मीकिरामायण और महाभारत में भक्ति - श्रीमद् भगवद्गीता में भक्ति - आगम साहित्य में भक्ति - नारद पंचरात्र में भक्ति - पुराणों में भक्ति - श्रीमद्भागवत में भक्ति - श्रीमद्भागवत का विषय - श्रीमद्भागवत के भगवान् कृष्ण - श्रीमद्भागवत की भक्ति - पंचधा और नवधा भक्ति - भक्ति और ज्ञान - श्रीमद्भागवत में भक्तों के भेद - भक्ति साधनाएँ - श्रीमद्भागवत का महत्व - भक्तिशास्त्रीय सूत्र-ग्रंथ - शांडिल्य भक्तिसूत्र - शांडिल्यभक्तिसूत्रों का भक्ति विवेचन - भक्तिसाधनाएँ - भक्ति का महत्व - शांडिल्य-भक्तिसूत्रों का महत्व - नारदभक्तिसूत्र - नारदभक्तिसूत्रों का विषय - भक्ति की परिभाषा - भक्ति के लक्षण - भक्ति के भेद - भक्तिसाधनाएँ - भक्ति का महत्व - नारद भक्तिसूत्रों का महत्व - भक्तिरसामृतसिंधु - भक्तिरसामृतसिंधु का विषय - भक्तिरसामृतसिंधु का भक्ति विवेचन - सामान्य भक्ति - साधन भक्ति - भाव भक्ति - प्रेमा भक्ति - भक्तिरसामृतसिंधु का भक्तिरसविवेचन - भक्तिरसामृतसिंधु का महत्व - निष्कर्ष ।

पृष्ठ संख्या

द्वितीय अध्याय 56 - 102

हिन्दी भक्ति साहित्य और तुलसीदास

हिन्दी भक्ति साहित्य का आरंभ - मध्यकालीन भक्ति साहित्य में अवतारवाद - मध्यकालीन भक्ति आचार्य - रामानन्द - वल्लभाचार्य - श्रीकृष्ण चैतन्य - हिन्दी भक्ति काव्य पर आचार्यों का प्रभाव - सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव - निर्गुण काव्य परंपरा - ज्ञानाश्रयी शाखा - संत कबीर - सन्त काव्य की विशेषताएँ - सन्त कवियों का महत्व - प्रेमाख्यान काव्य परंपरा - जायसी - प्रेमाख्यान काव्यों का महत्व - सगुण काव्य परंपरा - कृष्ण काव्य परंपरा - अष्टच्छाप और सूरदास - सूर की भक्ति - अष्टच्छाप के अन्य कवि - अष्टच्छाप के कवियों की विशेषताएँ - अन्य कृष्ण भक्त कवि - मीरा बाई - रसखान - गोस्वामी हितहरिवंश - कृष्ण भक्ति साहित्य का महत्व - रामकाव्य परंपरा - गोस्वामी तुलसीदास और रामभक्ति - तुलसीदास पर भक्ति आन्दोलन का प्रभाव - तुलसीदास के गौरव ग्रंथ - कवितावली - विनयपत्रिका- रामचरितमानस - रामचरितमानस का साहित्यिक सौन्दर्य - रामचरितमानस के दार्शनिक सिद्धांत - रामचरितमानस में भक्ति- अन्य राम भक्त कवि - रामभक्ति साहित्य का महत्व - भक्तिशास्त्र और हिन्दी भक्ति काव्य - निष्कर्ष ।

पृष्ठ संख्या

तृतीय अध्याय 103 - 16

रामचरितमानस में भक्ति का स्वरूप

रामचरितमानस में राम का स्वरूप - मानस के राम पर अध्यात्मरामायण और वाल्मीकिरामायण का प्रभाव - निर्गुण और सगुण - अवतारवाद - तुलसी के राम - तुलसी के राम: सगुण रूप: सौन्दर्य, शक्ति एवं शील - सौन्दर्य - शक्ति - शील - तुलसी के राम का महत्व - रामचरितमानस में वर्णित भक्ति का स्वरूप - भक्ति अनिर्वचनीय है - भक्त की अनुभूति की विशेषतायें - भक्ति प्रेमस्वरूपा है - भक्ति में अनन्यता है - भक्ति समर्पणरूपा है - भक्ति में अविस्मृति है - स्मरण के विभिन्न प्रकार - नाम स्मरण - रूपस्मरण - लीलास्मरण एवं गुण चिन्तन - भक्ति उपास्यसुखापेक्षी है - भक्ति निष्कामरूपा है - भक्ति द्वेष रहित है - भक्ति शान्ति रूपा है - भक्ति परमानन्दरूपा है - भक्ति अमृतस्वरूपा है - निष्कर्ष ।

चतुर्थ अध्याय 161 - 21

रामचरितमानस में भक्ति के प्रकार

पराभक्ति के भेद - गुणमाहात्म्यासक्ति - रूपासक्ति - पूजासक्ति - स्मरणासक्ति - दास्यासक्ति - सख्यासक्ति- वात्सल्यासक्ति - कान्तासक्ति - आत्मनिवेदनासक्ति - तन्मयतासक्ति - परमविरहासक्ति - गौणी भक्ति के भेद - तामस भक्ति - राजस भक्ति - सात्विक भक्ति - आर्त भक्ति- जिज्ञासा भक्ति - अर्थार्थी भक्ति - निष्कर्ष ।

पृष्ठ संख्या

पंचम अध्याय 220 - 2
==========

रामचरितमानस में भक्तिसाधनाएँ तथा भक्ति का महत्व

कृपा और पुरुषार्थ - साधना का महत्व - भक्तिशास्त्रोक्त साधनायें - विषय भोग और विषयासक्ति का त्याग - अधम भावों का उदात्तीकरण - दुस्संग का त्याग - सत्संग की आवश्यकता - निरन्तर भजन - कर्मों का समर्पणपूर्वक आचरण - भक्ति साधना की श्रेष्ठता - कर्म से भक्ति की श्रेष्ठता - ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता - योग से भक्ति की श्रेष्ठता - पराभक्ति का महत्व - भक्ति भेदभावरहित है - भक्ति लोकमंगल करती है - भक्ति देव, पितर आदि को भी सन्तुष्ट करती है - निष्कर्ष ।

उपसंहार 279 - 2
======

संदर्भ ग्रंथ-सूची 287 - 2
==========

प्रथम अध्याय

भक्तिशास्त्र - सामान्य परिचय

विश्व के प्रायः सभी धर्मों ने आध्यात्मिकता के क्षेत्र में भक्ति को महत्वपूर्ण स्थान दिया है । भारत में भी, जहाँ अनेक प्रकार की साधना-पद्धतियाँ विकसित हुई हैं, भक्ति को अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । भारत के धार्मिक इतिहास पर दृष्टि डालने पर मालूम होगा कि सबसे प्राचीन धार्मिक ग्रंथ वेदों से लेकर आधुनिक काल के आध्यात्मिक आचार्यों की रचनाओं तक में भक्ति के तत्व प्राप्त हैं । आध्यात्मिक क्षेत्र में भक्ति की श्रेष्ठता भी प्रायः सभी आचार्य स्वीकार करते हैं । कर्म-मार्ग की नीरसता तथा ज्ञान-मार्ग की दुरूहता से घबडाकर सरल चित्तवाले आस्तिक लोग भक्ति की शीतल-छाया में आ बैठते हैं और उसे सर्वाधिक आस्वाद्य एवं श्रेयस्कर महसूस करते हैं । योग-मार्ग की क्लिष्ट-साध्य "चित्त-वृत्ति-निरोध" की भी आवश्यकता इसमें नहीं है । भक्ति में केवल चित्त-वृत्तियों को भगवन्मय बनाना ही है ।[1] भक्ति की यह सरलता और सहजता उसे सर्वाधिक लोकप्रिय बना देती हैं ।

भक्तिशास्त्र क्या है ?

भक्ति से संबंधित विषयों की चर्चा करनेवाले ग्रंथों को आचार्यों ने भक्तिशास्त्र नाम दिया है । नारद भक्ति सूत्रों का छिहत्तरवाँ

---

1. द्रुतस्य भगवद् धर्मादि धारावाहिकतां गता ।
   सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते ।। - भक्तिरसायन 1.3

सूत्र है - "भक्तिशास्त्राणि मननीयानि तदुद्बोधक कर्माणि करणीयानि" । इस सूत्र की व्याख्या में श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार ने लिखा है "..... ऐसे ग्रंथों को अवश्य देखना चाहिए जिनमें भगवान् की भक्ति का निरूपण हो, भक्ति का माहात्म्य हो, भक्ति के साधन बतलाए गए हों, भगवान् के प्यारे भक्तों के पुण्य-चरित्रों की कथाएँ हों और भक्ति के वश में होकर रहनेवाले भगवान् के प्रभाव, रहस्य और गुणों का वर्णन हो । ऐसे भक्तिशास्त्रों के अध्ययन से, महात्मा भक्त-सन्तों की वाणियों के श्रवण और पठन से भगवान् के प्रति प्रेमा भक्ति का उदय होता है ।"[1] यहाँ भक्तिशास्त्र के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । भक्त भगवान् के साथ किन-किन उपायों से संबंध स्थापित कर सकते हैं, उस संबंध, अर्थात् भक्ति, के कितने भेद हो सकते हैं, उसका फल और महत्व क्या है, वह किस प्रकार प्रकट होता है जैसी बातों की चर्चा भक्तिशास्त्र का मुख्य विषय है । भक्ति की प्राप्ति में उपस्थित होनेवाले विघ्नों के बारे में साधकों को जानकारी देना भी भक्तिशास्त्र का लक्ष्य है । भक्तिशास्त्र में भक्तों के लक्षण और आचरण भी प्रस्तुत होते हैं । यह साधना में अत्यन्त सहायक होता है क्योंकि सिद्ध पुरुषों के लक्षणों को अपने जीवन में लाने का बोधपूर्वक प्रयत्न ही साधना है ।[2] इसलिए भक्तिशास्त्र में भक्तों के चरित वर्णित होते हैं । भक्तिशास्त्र में भक्त-चरितों का वर्णन एक दूसरे कारण से भी अनिवार्य है । वह यह है कि इन भक्त-चरितों के द्वारा ही भक्ति का स्वरूप, उसके लक्षण, प्रकार, उसका महत्व आदि साधकों के सामने प्रस्तुत किए जा सकते हैं । अनिर्वचनीय[3]

---

1. प्रेम-दर्शन - हनुमान प्रसाद पोद्दार - पृ. 14।
2. सर्वत्र एव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि
   तानि एव साधनानि उपदिश्यन्ते यत्नसाध्यत्वात् ।
   श्रीमद्भगवद्गीता 2.54 पर शांकर-भाष्य ।
3. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् । नारदभक्ति सूत्र 5।

एवं अनुभवरूप[1] होने के कारण भक्ति का वस्तुगत वर्णन तो असंभव है । भक्ति-शास्त्रकारों ने अपने अनुभवों एवं दूसरों में प्रकट होनेवाले लक्षणों के आधार पर ही भक्ति-संबंधी सिद्धांतों का निर्धारण किया है ।[2]

भक्ति से संबंधित विषयों का प्रतिपादन हमारे यहाँ के प्राचीनतम साहित्य वेदों में ही प्राप्त होता है । ज्ञान-संबंधी बातों को प्रमुखता देनेवाले उपनिषदों में भी भक्ति का समावेश हुआ है । बाद में महाभारत से लेकर भक्ति की विशद चर्चा शुरू होती है । फिर भागवतादि पुराण, शाण्डिल्य और नारद के भक्तिसूत्र, रूप गोस्वामी जैसे अपेक्षाकृत आधुनिक आचार्य का भक्तिरसामृतसिंधु जैसे ग्रंथ लिखे गए, जो भक्तिशास्त्र के अन्तर्गत आते हैं । इन सब का विशद परिचय आगे दिया जायेगा ।

वेदों में भक्ति

ऋग्वेद के मंत्रों में ऋषि प्राकृतिक शक्तियों की स्तुति करते दिखाई पडते हैं । ऊपरी दृष्टि से देखने पर ऐसा प्रतीत होगा कि ऋग्वेद की

---

1. नारदभक्तिसूत्र - 54

2. Bhakti Sastra is a commentary on the actual experiences of the devotees, and not a mere speculative philosophy based only on reason. Nor is it secondhand knowledge interpreted by a mere scholar. For the exposition is based upon the author's own personal experiences supported by those of other's as recorded in the Scriptures.
Narad Bhakti Sutras - commentory by Swami Tyagisananda
Page 39

ऋचाओं में प्रकृति के विभिन्न अंगों ने देवताओं का रूप धारण कर लिया है । फिर भी, ये सभी अंग एक ही परमेश्वर के अटल रूप की ओर केन्द्रित हो जाते हैं । वैदिक ऋचाओं में इन्द्र, मित्र, वरूण, आदि अनेकानेक नामों से भगवान् की स्तुति की गई है । इन्द्र, मित्र, वरूण आदि नाम किन्हीं भिन्न-भिन्न देवताओं के नाम नहीं है, अपितु एक ही परमात्मा के विविध गुणों के आधार पर ये विभिन्न नाम वेदों में प्रयुक्त हुए हैं । ऋग्वेद में इस विषय का प्रतिपादन करते हुए बताया गया है -

इन्द्रं मित्रं वरूणमग्निमाहुरथो दिव्यस्य सुपर्णो गुरूत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नियममातरिश्वानमाहुः ।।[1]

यास्क ने भी इसी बात पर ज़ोर दिया है । उन्होंने निरूक्त में कहा है कि इन्द्र, सूर्य आदि भिन्न देवता एक ही आत्मा के प्रत्यवयव हैं ।[2]

उपनिषदों में भक्ति

वेदान्त शब्द से व्यवहृत होनेवाले उपनिषदों में मुख्यतः ज्ञान और तप पर ही बल दिया गया है । फिर भी, उनमें भक्ति के लिए भी स्थान मिला है । उनमें भक्ति बीजरूप में सर्वत्र विद्यमान है ।[3] कुछ ऐसे

---

1. ऋग्वेद 1.164.46
2. एकस्यात्मनोऽन्येदेवा प्रत्यंगानि भवन्ति । निरूक्तम् - पृ. 335
3. The germs of Bhakti are there already, the germs are even in the Samhita ; the germs a little more developed are in the Upanishads. The complete works of Swami Vivekananda Vol.III.page-385.

उपनिषद् हैं जिन्होंने भक्तियुक्त उपासना के लिए भी प्रमुखता दी है । श्वेताश्वतर उपनिषद् उदाहरण है । यह पराभक्ति का महत्व सूचित करनेवाला उपनिषद् है ।[1] इसी उपनिषद् में "मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये"[2] कहकर शरणागति भाव की ओर भी स्पष्ट संकेत किया गया है । भक्ति के मुख्य अंग भगवत्कृपा का संकेत तो बहुत प्राचीन उपनिषद् कठोपनिषद् में ही मिलता है । इसमें बताया गया है कि जिसका वरण आत्मा द्वारा किया जाता है उसे ही आत्मा की प्राप्ति होती है ।[3] हिन्दी साहित्य के मध्यकालीन निर्गुण-भक्ति के अनेक तत्वों का मूल स्रोत उपनिषद् रहे हैं । प्राचीन भागवत-संप्रदाय को भी उपनिषदों ने प्रभावित किया है । भक्ति-विषयक प्रारंभिक ग्रंथों - महाभारत तथा गीता आदि - में भक्ति का जो रूप मिलता है, वह उपनिषदों से अवश्य प्रभावित है । लेकिन उपनिषदों में वह आडंबर नहीं है जो परवर्ती भक्ति साहित्य में मिलता है । इसमें अन्तःसाधना पर बल है, सत्यान्वेषण की जिज्ञासा है ।[4]

वाल्मीकि रामायण और महाभारत में भक्ति

भक्ति-सिद्धांतों का पर्याप्त विकास वाल्मीकि रामायण और महाभारत में हुआ है । रामायण के युद्धकाण्ड की फल श्रुति में वाल्मीकि

---

1. यस्य देवे भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ ।
   तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः । - श्वेताश्वतर उपनिषद्- 6.23
2. वही 6.18
3. यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।
   कठोपनिषद् - 1.2.23
4. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन -डा. श्रुतिभानुसिंह नाहर - पृ. 32

ने राम को विष्णु बताकर काव्य पाठ के लाभों पर प्रकाश डाला है ।[1] राम के स्वर्गारोहण के प्रसंग में भी उनको विष्णु का अवतार स्थापित किया गया है । इस प्रकार कल्याणकारी एवं सर्वशक्तिमान् ईश्वर की मानवीय रूप में उपासना करनेवाले अनेक प्रसंग आदिकाव्य में उपलब्ध हैं ।

महाभारत में भक्ति और भक्ति-सिद्धान्तों की विशद चर्चा मिलती है । श्रीमद्भगवद्गीता, विष्णु सहस्रनाम आदि अनेक भक्तिवर्द्धक प्रसंग महाभारत में आए हैं । इसके अन्तिम पर्वों में श्रीकृष्ण का चरित्र भक्ति का आधार बन गया है, श्रीकृष्ण परमेश्वर हो गया है । महाभारत में उपनिषदीय ब्रह्म को स्पष्ट व्यक्तित्व प्रदान किया गया है । व्यक्तित्व-संपन्न ईश्वर के शिव, विष्णु आदि किसी भी रूप को प्राप्त करने की लालसा तथा भक्ति महाभारत के धर्म की विशेषता है । भागवत-धर्म के विकास का पूर्ण रूप महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में अंकित है । विष्णु के नर, नारायण, हरि और कृष्ण इन चार अवतारों का उल्लेख इसमें मिलता है । इसमें कृष्ण का चित्रण जगदीश्वर के रूप में हुआ है । वे संसार के स्रष्टा, पालक एवं संहारकर्ता हैं । वे युग-युग में अवतार ग्रहण करते हैं । उनको भक्तवत्सल भगवान् के रूप में चित्रित करके भक्तों की आस्था बढाने का सफल प्रयास महाभारत में किया गया है ।

---

1. प्रीयते सततं रामः स हि विष्णु : सनातनः ।
   आदिदेवो महाबाहुर्हरिर्नारायणः प्रभुः ।।
   वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड - 131.119

श्रीमद् भगवद्गीता में भक्ति

महाभारतान्तर्गत होने पर भी श्रीमद् भगवद् गीता को एक अलग शास्त्र-ग्रंथ का स्थान प्राप्त हुआ है । भारतीय धर्म-ग्रंथों में श्री गीता का परमोन्नत स्थान है । वह समस्त शास्त्रों का सार-संग्रह है ।[1] गीता में भक्ति की चर्चा को बहुत ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ है । गीता में ज्ञान, कर्म, योग आदि सभी विषयों की चर्चा हुई है । भक्ति को उसमें अत्यधिक महत्व दिया गया है । गीता के चरम-श्लोक में शरणागति पर ही बल दिया गया है ।[2] आचार्य श्रीधर ने गीता को भक्ति की महत्ता स्थापित करनेवाला ग्रंथ ठहराया है । उनकी राय में गीता का सार-संग्रह है -भगवद् भक्ति से युक्त होने पर भगवत्प्रसाद से आत्मबोध की प्राप्ति ।[3] बाद में अनेकों आचार्यों ने भी गीता को भक्तिपरक ग्रंथ मानकर उसकी व्याख्या की है । रामानुज, मध्व, वल्लभ आदि इनमें प्रमुख हैं । भारतीय दर्शन के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा.पी.नागराज राव के शब्दों में "गीता में ईश्वर की प्राप्ति के अनेक मार्ग बताए गए हैं, यथा ज्ञानयोग, ध्यानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग । किन्तु गीता पढने पर ऐसा लगता है कि भक्तियोग को ही प्रमुखता दी गई है ।"[4] आधुनिक दुनिया में वैष्णव भक्ति का प्रचार करनेवाले, भक्तिशास्त्र के प्रकांड पंडित स्वामी भक्तिवेदान्त प्रभुपाद ने भी यही राय प्रकट की है ।[5]

---

1. तदिदं गीताशास्त्रं समस्तवेदार्थ सारसंग्रहभूतं दुर्विज्ञेयार्थम् । श्रीमद् भगवद्गीता - शांकर भाष्य - उपोद्घात ।
2. इहापि चान्ते उक्तं "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।"
   वही - शांकर भाष्य - उपोद्घात
3. भगवद् भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादात्मबोधतः ।
   सुखं बन्धविमुक्तिस्याद् इति गीतार्थसंग्रहः ।। - वही-18.78 पर श्रीधर भाष्य ।
4. गीता अवगाहन - डा.नागराज राव - पृ.42
5. So throughout the Gita personal devotion to Krishna is recommended as the highest form of Spiritual realization. Bhagavad Gita As It Is - Swami Bhaktivedanta Prabhupad - commentory on verse 12.1

श्रीमद् भगवद्गीता महाभारत के भीष्म-पर्व में आती है । इसमें कुल अठारह अध्याय हैं । कुरुक्षेत्र के धर्म-युद्ध में स्वजन-वध की चिन्ता से विषण्ण अर्जुन अपने सारथी और हितैषी श्रीकृष्ण से मार्ग-दर्शन माँगते हैं । इस प्रसंग से लेकर ग्रंथ के अंत तक भक्ति के भिन्न भिन्न अंग प्रतिपादित हुए हैं । सर्व-प्रथम अर्जुन में प्रपत्ति परिलक्षित हुई,[1] जो भक्ति का सर्व-प्रमुख अंग है । उसके बाद श्रीकृष्ण पहले सांख्य-योग और फिर कर्मयोग का वर्णन करते हैं । छठे अध्याय में ध्यानयोग का वर्णन है, जो भक्ति का एक अंग है । उसके बाद गीता में भक्ति से संबंधित बातें अधिकाधिक मात्रा में आने लगती हैं । नवम अध्याय तक आते-आते भक्ति का स्वर सबसे प्रमुख हो जाता है । महात्मा गांधी ने अपने गीता भाष्य में नवम अध्याय को भक्ति संबंधी अध्याय माना है ।[2] नवम अध्याय में कृष्ण के कुछ ऐसे वचन हैं जो भक्ति के प्रसंग में अकसर उद्धृत किए जाते हैं । भक्ति में अनन्य भगवच्चिन्तन का महत्व बतानेवाला श्लोक इनमें प्रमुख है ।[3] उसी प्रकार भक्ति का अधिकारी-निर्णय करनेवाले दो प्रसिद्ध श्लोक भी इस अध्याय में आए हैं । इन श्लोकों में कहा गया है कि भक्ति का अधिकार केवल उच्च वर्णवालों के लिए ही नहीं, अपितु मनुष्य-मात्र को है ।[4]

---

1. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
   यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।।
   गीता 2.9
2. गीता माता - महात्मा गांधी - पृ. 169
3. अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
   तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। गीता, 9.22
4. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
   स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।
   वही - 9.32

गीता का दसवाँ अध्याय "विभूतिविस्तरयोग" है । इसमें भगवद्विभूतियों का वर्णन है । इसमें अर्जुन की कृष्णस्तुति भी आयी है ।[1] अगला अध्याय "विश्वरूप-दर्शनयोग" है । इसमें अर्जुन की भावुक भक्ति का चित्रण हुआ है । भक्त और भगवान् के बीच के संबंधों का भी संकेत इस प्रसंग में हुआ है । यहाँ दास्य भक्ति, सख्य भक्ति और मधुर भक्ति के संकेत प्राप्त होते हैं । एक श्लोक में अत्यंत संक्षिप्त ढंग से भक्त और भगवान के संबंध को पुत्र और पिता, मित्र और मित्र तथा प्रेयसी और प्रियतम का संबंध कहा गया है ।[2]

इसके बाद भक्तियोग नामक बारहवें अध्याय में भक्ति की विशद मीमांसा हुई है । यहाँ सगुणोपासना और निर्गुणोपासना की तुलना करके सगुणोपासना को श्रेष्ठ स्थापित किया गया है । इस प्रसंग में कहा गया है कि देहाभिमानियों के लिए निर्गुणोपासना क्लिष्ट-साध्य है । लेकिन जो भगवत्समर्पणपूर्वक कर्म करके भगवद्ध्यान-रूपी सगुणोपासना करते हैं उनको भगवान् स्वयं भव सागर से तर लेते हैं ।[3]

---

1. श्रीमद् भगवद्गीता -10. 12-15
2. पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।। वही ।1.44.
3. अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।
   ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।
   अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।
   तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
   भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। वही 12.5-7

इसके बाद के अध्यायों में भी भक्ति के अनेक तत्व आए हैं । गीता का चरम श्लोक भी भक्ति के सर्वप्रमुख अंग - शरणागति-को रेखांकित करता है । इन सब से सिद्ध होता है कि श्रीमद् भागवद्गीता भक्ति का शास्त्रीय विवेचन करनेवाला एक ग्रंथ है, भक्तिशास्त्र का एक ग्रंथ है ।

गीता के भक्तियोग-संबंधी अध्यायों में सगुण-साकार, सगुण-निराकार एवं निर्गुण-निराकार उपासनाओं का वर्णन मिलता है । फिर भी देहधारी जीवों के लिए सगुणोपासना निर्दिष्ट किया गया है । गीताकार ने नाम-जप,[1] समस्त कर्मों का भगवदर्पण,[2] निरन्तर स्मरण,[3] पत्र-पुष्पादि का समर्पण,[4] नमस्कार,[5] कीर्तन[6] आदि को भक्ति के साधन बताए हैं । उन्होंने शरणागति अथवा प्रपत्ति को सर्वोपरि महत्व दिया है ।[7] श्रीकृष्ण के अवतारी रूप

---

1. यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि । गीता 10.25
2. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
   यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। वही 9.27
3. तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च । वही 8.7
4. पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
   तदहं भक्त्युपहृतं अश्नामिप्रयतात्मनः ।। वही 9.26
5, 6. सततं कीर्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः ।
   नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ताः उपासते ।। वही 9.14
7. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।
   भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ।।
   तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।
   तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।। गीता 18.61, 62.

और निराकार ब्रह्म दोनों को बारी-बारी से एक ही परमात्मा बताकर गीता ने परस्पर विरोधी दिखाई पडनेवाले तत्वों का सामंजस्य कर दिखाया है । इस प्रकार भक्ति-दर्शन का सर्वांगीण विवेचन श्रीमद् भगवद्गीता में हुआ है, जिसका परवर्ती रचनाओं पर बडा प्रभाव पडा है ।

आगम साहित्य में भक्ति

भक्ति-संबंधी ग्रंथों में आगम साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है । जो लोग उपनिषदों के वैदिक ज्ञान आत्मसात् नहीं कर सकते थे, उनके लिए आगम साहित्य प्रस्तुत किया गया था । आगमों में वर्णित उपासना-प्रणाली सरल एवं लोक-प्रसिद्ध सिद्ध हुई । विष्णु के एक सौ आठ, शिव के बाईस और देवी के सतहत्तर आगम प्रसिद्ध हुए ।[1] वनवासी ऋषियों ने जिन आगमों का अनुसरण किया, वे वैखानस आगम कहलाए । "पंचरात्र" वैष्णव आगमों का दूसरा नाम है, जिनमें विष्णु की उपासना की विधियाँ हैं । शैव आगमों में शिव की और शाक्तेय आगमों में देवी की उपासना की विधियाँ हैं ।

नारद-पंचरात्र में भक्ति

आगम साहित्य में पंचरात्रों का विशेष महत्व है । नारायण या विष्णु पंचरात्र संप्रदाय के मुख्य आराध्य है । नारायण के परा, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी तथा अर्चा ये पाँच रूप प्रसिद्ध हैं । इन पाँचों रूपों की

---

1. भक्ति आन्दोलन और साहित्य - डा. एम. जार्ज - पृ. 259

उपासना होने के कारण उस संप्रदाय का पंचरात्र नाम पडा है ।[1] पंचरात्र संहिताएँ कुल एक सौ आठ हैं । उनमें सबसे प्रमुख नारद-पंचरात्र है ।

नारद-पंचरात्र में श्रीकृष्ण और उनकी प्राण-प्रियतमा श्रीराधा की उपासना पद्धति पर प्रकाश डाला गया है । जीवन और मृत्यु, सुख और दुःख, इहलोक और परलोक आदि की समस्या पर भी इस में विचार किया गया है । नारद-पंचरात्र में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विवेचन करके वैकुण्ठ-प्राप्ति को जीव का ध्येय ठहराया गया है । इसके अनुसार भक्ति अथवा उपासना द्वारा भगवान् की सेवा ही परम-गति है, मुक्ति है । यह सेवा स्मरण, नामकीर्तन, वन्दन, चरण-सेवन, अर्चन और आत्मनिवेदन द्वारा संपन्न होती है । इस प्रकार नारद-पंचरात्र राधाकृष्ण-भक्ति का सर्वांगीण विवेचन प्रस्तुत करनेवाला एक ग्रंथ सिद्ध होता है ।

पुराणों में भक्ति

भक्तिशास्त्र-ग्रंथों की परंपरा में पुराणों का अत्यधिक महत्व है । स्वामी चिन्मयानन्द के शब्दों में पुराण ईश्वर प्रेम के सैद्धांतिक ग्रंथ हैं ।[2] पुराणों में भक्ति मार्ग पर अग्रसर होने की प्रेरणा है ।[3] विचार और दर्शन

---

1. भक्ति का विकास - मुंशी राम शर्मा - पृ. 259
2. Treatises on love are the Puranas.
   Narad Bhakti Sutra _ Swami Chinmayananda - P.267
3. दिव्य प्रेम नारद भक्तिसूत्र - स्वामी चिन्मयानंद - पृ. 133

संबंधी बातें प्रस्तुत करके पुराणों ने भक्ति के विकास के लिए अनुयोज्य वातावरण तैयार किया । उच्च आदर्शों तथा उपासना संबंधी सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए कथाओं का माध्यम अत्यंत उपयोगी है । पुराणों में देवताओं और भक्तों की कथाएँ यथेष्ट आयीं हैं । इन कथारूप उपदेशों को सुनते-सुनते सामान्य मानव भी अपना मन निर्मल बनाकर धर्म मार्ग पर चलने में श्रद्धावान् बनेगा ।[1] वेदों में जो तत्व संक्षिप्त रूप में बताए गए हैं, पुराणों ने उन्हें व्याख्यात्मक ढंग से प्रस्तुत किया ।[2] वैदिक साहित्य के अध्ययन के अनधिकारियों तथा अन्य साधारण लोगों के लिए भक्ति संवर्धक साहित्य प्रस्तुत करने में पुराणों को सफलता मिली ।

वेदान्त दर्शन की प्रमुख बातों का समावेश पुराणों में हुआ है । फिर भी ईश्वर-प्रेम को ही उसमें प्रधानता दी गई है । पुराणों की भक्ति सगुण भक्ति है । पुराणों में वेदान्त-प्रतिपादित ब्रह्म को सगुण रूप प्रदान करके उसकी उपासना की जाती है । सगुण ईश्वर के रूप, आभूषण, आयुध, सहचर, उनका दिव्य-धाम आदि का सुन्दर वर्णन इनमें मिलता है । पुराणों में ईश्वर की स्तुति में अनेक स्तोत्र आए हैं । ये ईश्वर के गुण, रूप, कर्म आदि के मार्मिक वर्णनों से भरे रहते हैं । पुराण-प्रतिपादित ईश्वर अनादि-अनन्त पुरुष हैं जिनकी प्रार्थना और आराधना करके भक्त अपने अभीष्टों की पूर्ति और आध्यात्मिक प्रगति प्राप्त कर सकते हैं ।

---

1. कल्याण-पुराण कथाङ्क - पृ. 18
2. इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् । महाभारत - आदि. 1.267

पुराण नाम से प्रसिद्ध ग्रंथों में कुछ ग्रंथ अधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक हैं । इन्हें महापुराण कहते हैं । महापुराण कुल अठारह हैं । अष्टादश पुराण ये हैं :

1. ब्रह्मपुराण	10. ब्रह्मवैवर्तपुराण
2. पद्म पुराण	11. लिंगपुराण
3. विष्णु पुराण	12. वराहपुराण
4. शिवपुराण	13. स्कन्दपुराण
5. भागवतपुराण	14. वामनपुराण
6. नारदीय पुराण	15. कूर्मपुराण
7. मार्कण्डेयपुराण	16. मत्स्यपुराण
8. अग्निपुराण	17. गरुडपुराण
9. भविष्यपुराण	18. ब्रह्माण्डपुराण[1]

पुराणों के लक्षण बताते हुए देवी भागवत में कहा गया है कि सर्ग, प्रतिसर्ग, वंश, मन्वंतर तथा वंशानुचरित पुराणों के मुख्य प्रतिपाद्य हैं ।[2] श्रीमद् भागवत में पुराणों के दस लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं :

अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणमूतय: ।
मन्वन्तरेशानुकथा निरोधो मुक्तिराश्रय: ।।[3]

---

1. A short history of Sanskrit Literature, T.K.Ramachandra Iyer, P. 40.
2. सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वन्तराणि च ।
   वंशानुचरितं चैव पुराणं पंचलक्षणम् ।। देवी भागवत - 1.2.18
3. श्रीमद्भागवत 2.10.1

अर्थात् यहाँ {पुराण में} सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय इन दस विषयों का वर्णन है । विभिन्न पुराणों में उपपुराणों की भी चर्चा प्राप्त होती है । साठ से अधिक उपपुराणों के बारे में जानकारी प्राप्त है ।[1]

अनेक विषयों से संबंधित होने पर भी, वास्तव में पुराणों का मुख्य ध्येय भगवद्भक्ति ही है । श्रीमद् भागवत में दस विषयों के विवेचन के प्रसंग में स्पष्ट कहा गया है कि दसवें विषय आश्रय {ब्रह्म, भगवान्} के स्वरूप परिज्ञान के लिए ही नौ विषयों का समावेश हुआ है ।[2] स्कन्द पुराण का कथन है कि पुराणों में आदि, मध्य तथा अन्त में, अर्थात् सर्वत्र हरि का गुण-गान ही है ।[3] इससे स्पष्ट होता है कि मुख्य तथा अवान्तर रूप से भगवच्चर्चा ही पुराणों का अन्यतम प्रतिपाद्य विषय है । आख्यानों, उपाख्यानों तथा गाथाओं के द्वारा पुराणों में उसी परम प्रभु की महिमा का गायन किया गया है, उसी परमात्मा की भक्ति की महिमा को रेखांकित किया गया है ।

---

1. कल्याण, पुराणकथाङ्क - पृ. 393.
2. दशमस्य विशुध्यर्थं नवानामिह लक्षणम् ।
   वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चाञ्जसा ।। भागवत 2.10.2.
3. वेदे रामायणे चैव पुराणेषु च भारते ।
   आदिमध्यावसानेषु हरिरेकोऽत्र नापरः ।।
   स्कन्दपुराण. काशीखंड 95.12

श्रीमद् भागवत् में भक्ति

समस्त पुराणों में सर्वाधिक प्रचलित पुराण श्रीमद् भागवत है । यह वैष्णव ग्रंथ है । "भागवत" शब्द की निरूक्ति दो प्रकार से हैं : भगवतः वा भगवत्या इदं भागवतम् ।[1] इसके अनुसार "भागवत" विष्णुभागवत भी हो सकता है और देवीभागवत भी । देवी भागवत में आए हुए श्रीमद् भागवत के विशद वर्णन से सिद्ध होता है कि देवी भागवत बाद की रचना है । अतः अष्टादश पुराणों में गिने जानेवाला भागवत श्रीमद् भागवत सिद्ध होता है । फिर भी, अगर किन्हीं कारणों से देवी भागवत को अष्टादश महापुराणों में एक मान लिया भी जाय, तो भी श्रीमद् भागवत का महत्व तनिक भी घटता नहीं । तब विष्णु भागवत का स्थान एक उपपुराण का नहीं वरन् एक "अतिपुराण" का बन जायेगा ।[2]

श्रीमद् भागवत का महत्व इतना अधिक है कि यह आध्यात्मिक जगत में उपनिषदों और भगवद् गीता के बाद सर्वाधिक प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है । आध्यात्मिक साधक इस ग्रंथ-रत्न के अध्ययन से अत्यंत लाभान्वित हो जाते हैं । इसका अनुवाद भारत की सभी प्रमुख भाषाओं में हुआ है । साथ ही अंग्रज़ी जैसी विदेशी भाषाओं में भी इसका अनुवाद हुआ है । वैष्णव ग्रंथ होने पर भी इसमें सांप्रदायिक कट्टरता का नितांत अभाव है । इसके सिद्धान्तों में उदारता के तत्व यथेष्ट हैं ।

---

1. कल्याण -पुराणकथाङ्क - पृ. 181

2. If for any reason the claim of the Devi Bhagavatha is accepted, then the place of Vishnu Bhagavatha can only be that of a Super Purana and not that of Upa Purana. Swami Tapasyananda - Introduction to Bhaktiratnavali-p.7

श्रीमद् भागवत के रचनाकाल और रचयिता को लेकर विद्वानों के बीच आज भी वाद-विवाद चल रहा है । पौराणिक मान्यता यह है कि सृष्टि के आरंभ में स्वयं भगवान् विष्णु ने ब्रह्मा को भागवत-तत्व का उपदेश दिया था । ब्रह्मा से देवर्षि नारद ने इसे प्राप्त किया । नारद ने इसे महर्षि व्यास को सिखाया जो वेदों के विभाजन, ब्रह्मसूत्रों का प्रणयन और अनेक पुराणों की रचना के बाद भी अकृतार्थ- से रहते थे । वेदव्यास ने इसका विस्तार किया और लक्षण-युक्त पुराण के रूप में इसकी रचना की । उन्होंने अपने पुत्र श्रीशुक को श्रीमद् भागवत पढाया जिन्होंने महाराजा परीक्षित को संपूर्ण भागवत सुनाया ।[1] इस प्रकार पौराणिक मान्यता के अनुसार भागवत के रचयिता महर्षि व्यास है । आधुनिक इतिहासकारों के अनुसंधानों के फलस्वरूप श्रीमद् भागवत के रचनाकाल और रचयिता के बारे में अनेक मत आए हैं । प्रो. हज़रा के अनुसार भागवत का वर्तमान रूप छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में परिनिष्ठित हो चुका था ।[2]

श्रीमद् भागवत का विषय

श्रीमद् भागवत का प्रतिपाद्य स्वयं परमात्मा है । परमात्मा के नाम के संबंध में कोई विशेष आग्रह नहीं है - चाहे कोई ब्रह्म कह लें, चाहे

---

1. इदं भागवतं नाम पुराणं ब्रह्मसम्मतम् ।
   उत्तमश्लोकचरितं चकार भगवानृषिः ।।
   निश्रेयसाय लोकस्य धन्यं स्वस्त्ययनं महत् ।
   तदिदं ग्राहयामास सुतमात्मवतां वरम् ।।
   सर्ववेदेतिहासानां सारं सारं समुद्धृतम् ।
   स तु संश्रावयामास महाराजं परीक्षितम् ।। भागवत - 1.3, 40-42

2. Cultural Heritage of India - Vol.II - P-259

भगवान् । श्रीमद् भागवत में भगवान् के विविध रूपों का वर्णन हुआ है । निर्विशेष-सविशेष, निराकार -साकार - जो जैसा अधिकारी हो, वह भगवान् का वैसा ही रूप भागवत में प्राप्त कर सकता है । वास्तव में भगवान् सर्व-स्वरूप है, उन्हें सब रूपों में प्राप्त किया जा सकता है । ऐसा होने पर भी श्रीमद् भागवत की एक विशेष वर्णन शैली है । उसके अनुसार विचार करने पर अन्य ग्रंथों की अपेक्षा श्रीमद् भागवत की असाधारण विशेषता प्रकट होती है ।

श्रीमद् भागवत में दस विषयों का वर्णन आता है । अन्य सब बातें इन्हीं के अन्तर्गत आती हैं । सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वंतर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय ये दस विषय - जो महापुराणों में अनिवार्य रूप से आवश्यक हैं - श्रीमद् भागवत में भी वर्णित हैं । इनमें सबसे प्रधान "आश्रय" है । आश्रय शब्द का अर्थ जीवों के लिए शरण लेने योग्य भगवान् है । इसी आश्रय तत्त्व की उपलब्धि के लिए अन्य नौ विषयों का वर्णन हुआ है । सर्ग, विसर्ग आदि के वर्णन के द्वारा भगवान् की अनन्त महिमा का बोध कराना ही श्रीमद् भागवत का उद्देश्य है । यों तो श्रीमद्-भागवत् के बारहों स्कन्धों में "आश्रय" का निरूपण हुआ है, तथापि सगुण-साकार आश्रय का दशम स्कंध में विशेष वर्णन हुआ है । श्रीमद् भागवत का आश्रय परब्रह्म-परमात्मा भगवान् श्रीकृष्ण है । श्रीमद् भागवत में श्रीकृष्ण और ब्रह्म दो नहीं एक ही है ।[1] ब्रह्मसूत्र और उपनिषदों का ब्रह्म और श्रीमद्भागवत

---

1. अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
   यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम् ।। भाग. 10. 14. 32

का श्रीकृष्ण एक ही परम वस्तु है ।[1] श्रीमद् भागवत में कहा गया है -

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।[2]

अर्थात् तत्त्ववेत्ता लोग एक ही अद्वितीय ज्ञान-स्वरूप तत्त्व को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् कहते हैं । श्रीमद् भागवत की स्पष्ट घोषणा है -

अन्ये चांशकलाः सर्वे कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।[3]

अर्थात् दूसरे अवतार अंशावतार अथवा कलावतार हैं जबकि कृष्ण स्वयं साक्षात् भगवान् हैं । तात्पर्य यह है कि और जितने अवतार होते हैं, उनमें भगवान् के अंश या कला ही रहते हैं, परन्तु भगवान् श्रीकृष्ण तो परिपूर्णतम है ।

---

1. वरमिममुपदेशमाद्रियध्वं
   निगमवनेषु नितान्तचारखिन्नाः ।
   विचिनुत भवनेषु वल्लवीनां
   उपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ।।
   श्रीकृष्णकर्णामृत 2.28
2. श्रीमद् भागवत - 1.2.11
3. वही 1.3.27

वर्णन की दृष्टि से श्रीमद् भागवत का चार प्रकार से विभाजन किया जा सकता है । ये हैं - घटनात्मक, उपदेशात्मक, स्तुत्यात्मक और गीतात्मक । घटनात्मक भागों में एक तो भगवल्लीलाएँ हैं और दूसरा सामान्य घटनाएँ हैं । भागवत का उपदेशात्मक भाग अत्यंत महत्वपूर्ण है । आचार्यों ने उपदेश के तीन प्रकार माने हैं - प्रभु-सम्मित, सुहृत्-सम्मित और कान्ता-सम्मित । किसी कारण को बिना बताए दिये जानेवाले उपदेश प्रभु-सम्मित कहे जाते हैं । वेदों के उपदेश प्रभु-सम्मित हैं । कथा-कहानी आदि के द्वारा कार्य-कारण सहित दिये जानेवाले उपदेश सुहृत्-सम्मित है । पुराणों एवं इतिहासों के उपदेश सुहृत्-सम्मित हैं । अपने मधुर व्यवहार से अपनी ओर आकृष्ट करनेवाले उपदेश कान्ता-सम्मित उपदेश हैं । इस कोटि में रघुवंश आदि काव्य आते हैं ।[1] पुराण होने के कारण श्रीमद् भागवत में सुहृत्-सम्मित उपदेशों को अत्यंत प्रमुखता दी गई है । श्रीमद् भागवत के प्रत्येक अध्याय और प्रत्येक संवाद में ऐसे उपदेश मिलते हैं जिनके अनुसार आचरण करने से जीव अपना परम कल्याण प्राप्त कर सकता है । सभी उपदेशों का सार है - विषयों की आसक्ति छोडकर अपने कर्तव्य-कर्म का अनुष्ठान करते हुए भगवान् का स्मरण करते रहना । ज्योतिश्चक्र, भूगोल, अनेक राजा आदि के वर्णनों के पीछे भी संसार की नश्वरता का बोध कराना और वैराग्य का उपदेश देना ही भागवतकार का उद्देश्य रहा है ।[2]

---

1. कल्याण - पुराणकथाङ्क - पृ. 18।
2. कथा इमास्ते कथिता महीयसां
   विताय लोकेषु यशः परेयुषाम् ।
   विज्ञानवैराग्यविवक्षया विभो
   वचोविभूतीर्न तु पारमार्थ्यम् ।। भागवत - 12.3.14

इन सामान्य उपदेशों के अलावा भागवत के कुछ भाग ऐसे हैं जो पूर्णतः उपदेशात्मक हैं । ये गीता-रूप है । इनमें कपिल-गीता[1], उद्धव-गीता[2], आदि प्रमुख हैं । वसुदेव-नारद संवाद[3], उद्धवगीतान्तर्गत अवधूत-यदु संवाद[4], आदि भी उपदेश-परक भाग हैं ।

श्रीमद् भागवत का तीसरा महत्वपूर्ण अंश स्तुत्यात्मक है । स्तुति का साधारण अर्थ है - प्रशंसा । देवता, मनुष्य आदि के गुण, प्रभाव, शक्ति और कर्म सीमित होते हैं । इसलिए उन्हें प्रसन्न करने के लिए जब उनका वर्णन किया जाता है तब बढा-चढाकर उनकी स्तुति की जाती है । परंतु भगवद्गुणों की कोई सीमा नहीं होती है । उनके चरित्र अनंत हैं, उनका ऐश्वर्य माधुर्य आदि भी असीम होते हैं । उनका पूरा-पूरा वर्णन क्या अंश का वर्णन भी असंभव है । श्रीमद् भागवत की स्तुतियों में यह बात स्पष्ट हुई है । इसकी दो-तीन स्तुतियों को छोडकर शेष सभी स्तुतियाँ भगवत्स्तुतियाँ हैं । श्रीमद् भागवत में अन्य देवताओं का तिरस्कार नहीं हुआ है । उसमें एकेश्वरवाद के साथ ही बहुदेववाद को भी स्थान मिला है । देवताओं की स्तुति उनको महत्व-पूर्ण ठहराने के लिए नहीं, बल्कि उनके द्वारा भगवान् की महिमा के वर्णन के लिए

---

1. भागवत अध्याय - 25-32
2. वही ।। अध्याय - 7-29
3. वही ।। अध्याय - 2-5
4. वही ।। अध्याय - 7-9

की गई है । द्वितीय स्कंध के पाँचवें अध्याय में देवर्षि नारद ब्रह्मा की स्तुति करते हैं ।[1] लेकिन उसका प्रयोजन ब्रह्मा से भगवत्तत्त्व की जानकारी प्राप्त करना था । उसी प्रकार सातवें स्कन्ध के तीसरे अध्याय में दैत्य राज हिरण्यकशिपु को ब्रह्मा की स्तुति करते, दिखाया गया है ।[2] लेकिन ब्रह्मा का वर-प्रसाद भी उस दुष्ट को भगवान् के हाथों से बचा नहीं सकता है । श्रीमद् भागवत में प्रत्येक कामना की पूर्ति के लिए एक-एक देवता की उपासना निर्णीत करके अंत में बताया गया है कि निष्काम, सकाम और मोक्ष-काम - सब प्रकार के लोगों को भगवान् की ही उपासना करनी चाहिए ।[3] इन सब से स्पष्ट है कि भगवान् की स्तुति करना ही भागवत का मुख्य ध्येय है ।

भागवत की स्तुतियाँ दो प्रकार की हैं - एक सकाम और दूसरी निष्काम । निष्काम स्तुतियों के भी दो भेद हैं - एक तो वे जिनमें तत्त्वज्ञान की प्रधानता है और दूसरी वे जिनमें साधना की प्रधानता है । वेदस्तुति जैसी स्तुतियाँ तत्त्वनिर्णयपरक हैं । प्रह्लाद, वृत्रासुर आदि की स्तुतियाँ साधना-प्रधान हैं । तत्त्वनिर्णय प्रधान स्तुतियाँ भी भगवान् में पर्यवसित होती है । साधना-प्रधान स्तुतियों में कभी-कभी मोक्ष का भी तिरस्कार करके भगवान् की सेवा की उत्कट लालसा अभिव्यक्त की जाती है । वास्तविक भक्त भगवान् को छोडकर स्वर्ग, ब्रह्मलोक, भूमण्डल का साम्राज्य,

---

1. भागवत - 2.5. 1-8
2. भागवत 7.3. 26-34
3. अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
   तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ।। वही 2.3. 10

रसातल का आधिपत्य, योगसिद्धियाँ या मोक्ष तक नहीं चाहता है ।[1] इन भावुक स्तुतियों में भी आत्मशुद्धीकरण के तत्त्व रहते हैं, भगवत्स्वरूप का ज्ञान रहता है और साधना में परिपूर्ण निष्ठा रहती है । श्रीमद्भागवत की स्तुतियों की महिमा वास्तव में अवर्णनीय है, अनुभवैकवेद्य है ।

श्रीमद् भागवत का चौथा भाग गीतात्मक है । "गीत" शब्द का अर्थ है गायन । जब अन्तरात्मा अपनी व्यथा, अन्तर्वेदना और अनुभूति को अपने अंदर संवरण नहीं कर पाती, तब अपने आप ही जो उद्गार निकलते हैं उनका नाम गीत है ।[2] वह संसार की कटुता के अनुभव से, ज्ञान से, विरह से, प्रेम से, प्रेम करने की इच्छा से, विरह की संभावना से अथवा अन्य कारणों से भी हृदय से निकल पडता है । वह एकान्त में भी अभिव्यक्त होता है और लोगों के सामने भी । वह किसी की अपेक्षा न करके भी फूट पडती है और किसी को संबोधित करके भी । श्रीमद्भागवत में ऐसे गीत जितने भी हैं, उनमें अधिकांश गोपिकाओं के हैं । वे गीत विरह के मूर्तिमान स्वरूप हैं । उन्हें पढकर पत्थर का हृदय भी पिघल जाता है । भागवत में गोपिकाओं के गीत कुल पाँच हैं । गोपिकाओं के अलावा द्वारका की कृष्ण-पत्नियाँ, पिङ्गला नामक वेश्या और एक ब्राह्मण-भिक्षु के भी एक-एक गीत भागवत में आए हैं ।

---

1. न नाकपृष्ठं न च पारमेष्ठ्यं
   न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम् ।
   न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा
   समञ्जस त्वा विरहय्य काङ्क्षे । भागवत 6.11.25
2. भागवत दर्शन -स्वामी अखंडानन्द सरस्वती-श्रीमद्भागवत महापुराण, भूमिका-पृ. 18)

श्रीमद् भागवत के भगवान् कृष्ण

श्रीकृष्ण का भागवत के साथ क्या संबंध है, इसका संकेत ऊपर दिया जा चुका है । श्रीमद् भागवत की पारायण-विधि में उपक्रम के एक श्लोक में आया है कि श्रीमद् भागवत प्रत्यक्ष श्रीकृष्ण ही है ।[1] इस दृष्टि से भागवत के पद-पद में और अक्षर-अक्षर में श्रीकृष्ण के स्वरूप का साक्षात्कार होता है । ऐसी स्थिति में भागवत के अमुक प्रकरण में ही भगवान् श्रीकृष्ण की लीला है, ऐसा नहीं कहा जा सकता । भागवत का सब कुछ श्रीकृष्ण की लीला है । उसका प्रकाश कहीं व्यक्त रूप से है और कहीं अव्यक्त रूप से । जहाँ अव्यक्त रूप से है, वहाँ भी सहृदय लोगों के लिए संकेत विद्यमान है । भगवान् की लीला की सबसे प्रमुख विशेषता यह है कि लीला भगवान् की मौज है । वह केवल लीला के लिए है । वे कर्ता होकर भी अकर्ता और भोक्ता होकर भी अभोक्ता है ।

भागवत के दशम स्कंध में श्रीकृष्ण-लीला का विस्तार पूर्वक वर्णन है । एकादश में उनके ज्ञानोपदेश लीला वर्णित है । श्रीमद् भागवत का सर्वप्रमुख दो स्कंध ये ही हैं । दशम स्कंध में श्रीकृष्ण के रूप में विष्णु का प्रादुर्भाव और एकादश में श्रीकृष्ण का तिरोधान वर्णित है । फिर भी श्रीकृष्ण विष्णु का एक अवतार नहीं, स्वयं विष्णु ही माना गया है । भागवत का विष्णु श्रीकृष्ण का ही एक दूसरा रूप है । वह वेद प्रतिपादित विष्णु से बिलकुल भिन्न है ।[2]

---

1. श्रीमद् भागवताख्योऽयं प्रत्यक्षः कृष्ण एव हि ।
   स्वीकृतोऽसि मया नाथ मुक्त्यर्थं भवसागरे ।। श्रीमद्भागवत-हिन्दी व्याख्या सहित - पृ.27

2. ... the Vishnu of the Bhagavatha is only an idealized form of Krishna and is thus entirely different from the Vishnu of the Vedas.
   Swami Tyageeshananda - Cultural Heritage of India Vol.III - P.284

भागवत के दशम स्कंध में वर्णित एक-एक लीला किसी-न-किसी रूप में भगवान् की भगवत्ता प्रकाशित करती है । भगवत्ता का यह प्रकाश भक्तों को स्पष्ट दीख पडता है और वे उसका रस भी लेते हैं । ऐसा होने पर भी उन लीलाओं का लालित्य या माधुर्य गायब होता नहीं है । यह बात दशम स्कंध के सूक्ष्म अध्ययन से स्पष्ट होगी । दैत्यों के उद्धार में ऐश्वर्य और शक्ति प्रकट है, फिर भी भगवल्लीला का माधुर्य उन घटनाओं में प्रत्यक्ष है । पूतना का विष पी लेना बालक कृष्ण के लिए कोई कठिन काम नहीं है । चतुर्भुज-रूप में माता-पिता के सामने प्रकट होना भी उनके वात्सल्य का उदाहरण है । वे जो कुछ भी करते हैं, सब खेल हैं, स्वाभाविक हैं ।

कृष्ण के क्रिया-कलापों में स्थान-स्थान पर धर्म की अभिव्यक्ति हुई है । वे जागने से लेकर सोने तक धर्म-निष्ठा में जीवन बिताते हैं । वे यज्ञ करते हैं, दान करते हैं, धर्मघातियों का संहार करते हैं । संक्षेप में भगवान् कृष्ण समग्र धर्म के कर्ता, वक्ता और अनुष्ठाता हैं । श्रीकृष्ण का ज्ञान अखण्ड है, अबाध है । पूरे ग्यारहवें स्कंध में उनके श्रीमुख से ज्ञान की धारा प्रवाहित हुई है । इस प्रकार भागवत-प्रतिपादित कृष्णलीलाओं और कृष्ण-स्वरूप पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि वे परिपूर्णतम हैं, स्वयं भगवान् ही हैं ।

श्रीमद्भागवत की भक्ति

भागवत में प्रतिपादित भक्ति का आश्रय मुख्यत: भगवान् श्रीकृष्ण है । विष्णु के अन्य अवतारों की भक्ति भी इसमें आयी है । लेकिन

ध्यान देने योग्य बात है कि अन्य अवतारों की भक्ति भी कृष्ण की भक्ति मानी गई हैं क्योंकि कृष्ण स्वयं अवतारी भगवान् है । उदाहरणार्थ, नृसिंह के अवतार के प्रसंग में प्रह्लाद की भक्ति के आश्रय के रूप में कृष्ण का उल्लेख किया गया है । श्रीकृष्ण के भक्तों की अनेक श्रेणियाँ होती हैं । वे अपनी भूमिका, स्थिति और भावना के अनुसार श्रीकृष्ण की विभिन्न लीलाओं से प्रेम करते हैं, अपनी रूचि की अनुकूल लीलाओं का ही श्रवण-कीर्तन-स्मरण करते हैं ।

पंचधा और नवधा भक्ति

भागवत में भक्ति की चर्चा सैद्धान्तिक रूप से और व्यावहारिक रूप से की गई है । भक्ति का व्यावहारिक रूप भक्तों के जीवन में प्रकट हुए हैं । शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य रूपी पंचधा भक्ति तथा श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन रूपी नवधा भक्ति इसमें प्रकट हुई हैं । भागवत के अंबरीष, व्यास आदि में शान्त भक्ति, विष्णुपार्षदों में दास्यभक्ति, उद्धव, अर्जुन आदि में सख्य भक्ति, यशोदा, देवकी, नन्द, वसुदेव आदि में वात्सल्यभक्ति तथा गोपिकाओं में मधुर भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है । नवधा भक्ति भागवत की देन है । सप्तम स्कंध में प्रह्लाद के वाक्यों में नवधा भक्ति संबंधी विख्यात

---

1. न्यस्तक्रीडनको बालो जडवत्तन्मनस्तया ।
   कृष्णग्रहगृहीतात्मा न वेद जगदीदृशम् ।।
   भागवत 7.4.37

श्लोक आया है ।[1] नवधा भक्ति को समूचे भक्तिशास्त्र में चिरप्रतिष्ठा प्राप्त हुई है । श्रवणकीर्तनादि नवधा भक्ति की व्याख्या दो दृष्टियों से की जा सकती है । पहली दृष्टि में ये एक ही साधक की भक्ति-साधना के विकास को प्रस्तुत करती हैं । अर्थात्, आरंभ में भगवान् के तत्त्व और लीलाओं के श्रवण से भक्ति अंकुरित होती है । फिर वह कीर्तन और निरंतर स्मरण में आगे बढती है । भगवान् के पादसेवन का अवसर पाकर वह पुनः विकसित होती है और भगवान् की अर्चना, उनका नमस्कार आदि के माध्यम से अन्त में साधक को भगवान् का दास बना देती है । उसके बाद भगवान् और भक्त ज़्यादा नज़दीक आते हैं और सख्य के दृढ़ बंधन में बंध जाते हैं । तदुपरांत भक्त अपने को भगवान् के सम्मुख समर्पित कर देता है, भगवान् से अभिन्न हो जाता है ।

नवधा भक्ति को दूसरी दृष्टि से देखने पर उसके एक-एक अंग अपने में पूर्ण हैं । उनमें किसी एक का अभ्यास भक्त को परम पद की प्राप्ति करा देता है । इसके भी प्रमाण भागवत में उपलब्ध हैं । श्रीविष्णु के श्रवण मात्र से परीक्षित्, कीर्तन मात्र से शुकदेव, स्मरण मात्र से प्रह्लाद, उनके चरणों के सेवन से लक्ष्मी, पूजन से पृथु, अभिवन्दन से अक्रूर, दास्य से हनुमान,

---

1. श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
   अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
   इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा ।
   क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ।।
   भागवत - 7.5. 23, 24

सख्य से अर्जुन और अपने सर्वस्व समर्पण से बलि कृष्ण-प्राप्ति में सफल हुए ।[1]

भक्ति और ज्ञान

भागवत में कहा गया है कि आत्माराम मुनियों को भी भगवद्-भक्ति अपनी ओर आकृष्ट करती है ।[2] भक्ति रहित ज्ञान की शोभा नहीं होती है ।[3] जो योगी भगवद्भक्ति से युक्त और भगवच्चिन्तन में मग्न रहता है, उसके लिए ज्ञान अथवा वैराग्य की आवश्यकता नहीं है ।[4] भक्ति की श्रेष्ठता बताते हुए स्वयं भगवान् ने कहा है कि जो निष्काम और निरपेक्ष है उसी को मेरी भक्ति प्राप्त होती है ।[5] अर्थात् भक्ति अत्यंत दुर्लभ है, मुक्ति से भी

---

1. श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवत् वैयासकिः कीर्तने
   प्रह्लादः स्मरणे तदंघ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने ।
   अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः
   सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परम् ।।
   भक्तिरसामृतसिंधु - पूर्वविभाग - साधन भक्ति लहरी - श्लोक 197
2. आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रंथा अप्युरुक्रमे ।
   कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थंभूतगुणो हरिः ।। भागवत - 1.7.10
3. नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम् । वही 12.12.52
4. तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
   न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भविष्यति ।। वही 11.20.31
5. नैरपेक्ष्यं परं प्राहुः निःश्रेयसमनल्पकम् ।
   तस्मान्निराशिषो भक्तिर्निरपेक्षस्य मे भवेत् ।। वही 11.20.35

बढकर है । भगवान् मुक्ति दे देते हैं, परंतु मुक्ति से भी बढकर जो भक्तियोग है उसे सहज में नहीं देते ।[1] इस प्रकार भागवत के अनुसार ज्ञान और तज्जन्य मुक्ति से बढकर भक्ति श्रेष्ठ है ।

श्रीमद् भागवत में भक्तों के भेद

श्रीमद् भागवत में भक्तों के विभिन्न भेदों का भी विवेचन हुआ है । सबसे पहले कपिलोपाख्यान में त्रिगुणों के आधार पर भक्ति के तामसी, राजसी, सात्त्विकी और निर्गुण भेदों के लक्षण बताए गए हैं ।[2] उसके बाद एकादश स्कंध में वसुदेव-नारद संवाद में प्राकृत, मध्यम और उत्तम भक्तों के लक्षण बताकर भागवतोत्तम का स्पष्ट चित्र खींचा गया है ।[3] उसी प्रकार गीतोक्त आर्त, अर्थार्थी, जिज्ञासु तथा ज्ञानी भक्तों का चित्रण भी भागवत में हुआ है । इनके उदाहरण क्रमशः गजेन्द्र, ध्रुव, उद्धव और भीष्म है ।

---

1. मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम् । भागवत . 6. 7. 18
2. भागवत - 3. 29. 7-12
3. सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
   भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तम : ।।
   ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च ।
   प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः ।।
   अर्चायामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते ।
   न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः ।।
   वही ।।. 2. 45-47

भक्तिसाधनाएँ

श्रीमद् भागवत में भक्तिसाधनाओं का अत्यंत विशद वर्णन हुआ है । एकादश स्कन्ध के वसुदेव-नारद संवाद में "भागवत-धर्म" नाम में इसका समग्र वर्णन एक ही स्थान पर मिलता है । इसके अलावा उद्धव और श्रीकृष्ण के संवाद में अनेक अध्यायों में भक्तिसाधना के विविध अंगों का विवेचन मिलता है ।

भागवतोक्त भक्तिसाधनाओं में सबसे प्रमुख सत्संग हैं ।[1] महात्माओं की पाद धूलि के अभिषेक के बिना तप, यज्ञ, संन्यास, वेदाध्ययन आदि किसी भी मार्ग से भक्ति का उदय नहीं हो सकता है ।[2] महात्माओं के संपर्क से भगवान् से संबंधित बातें सुनने का अवसर मिलता है । श्रवण के बाद कीर्तन स्मरण आदि होते हैं । निरन्तर भगवत्स्मरण ही भक्ति का स्वरूप है । इसमें सहायक पूजा, तीर्थाटन, व्रत-उपवास आदि अपेक्षाकृत सरल साधनाओं को भी भागवत में यथायोग्य स्थान दिया गया है ।

---

1. According to the Bhagavatha association with holymen generates Sraddha (faith) in Spiritual matters.... This association with holymen is at the root of all Spiritual Progress.

   Swami Tapasyananda - Bhakti Ratnavali - P.125

2. रहूगणैतत्तपसा न याति न चेज्यया निर्वपणाद्गृहाद्वा ।
   न च्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यैः विना महत्पाद रजोऽभिषेकम् ।।

   भागवत 5.12.12.

श्रीमद्भागवत का महत्व

श्रीमद् भागवत के सूक्ष्म अवलोकन से एक बात स्पष्ट है - यह भक्तिशास्त्र के तत्त्वों का समग्र प्रतिपादन करनेवाला एक ग्रंथ है । इसमें भक्ति के महत्व को इस प्रकार रेखांकित किया गया है कि हर पाठक भक्ति को ही अपना जीवन-लक्ष्य मान लेगा । इसमें भक्ति की महिमा के बारे में कहा गया है कि सारे सांसारिक बंधनों से मुक्त आत्माराम मुनियों को भी भक्ति अत्यंत प्रिय हैं ।[1] भक्ति के बिना दूसरी सभी साधनाएँ निरर्थक है ।[2] अपनी उच्चावस्था में भगवत्प्रेम अद्वैत की स्थिति से अभिन्न है ।[3] भक्ति के महत्व पर बल देनेवाले भागवत में सांप्रदायिक पूर्वाग्रह का नितांत अभाव है । भक्ति के सांगोपांग विवेचन से समृद्ध होने के कारण श्रीमद् भागवत महापुराण भक्तिशास्त्र का एक श्रेष्ठ ग्रंथ बन गया है ।

भक्तिशास्त्रीय सूत्र-ग्रंथ

संस्कृत में विभिन्न दार्शनिक संप्रदाय के सिद्धांत सूत्रों में लिखे गए हैं । किसी बात को अत्यंत संक्षिप्त, सुस्पष्ट और अर्थगर्भित रूप में कहनेवाले छोटे-छोटे वाक्य सूत्र कहलाते हैं ।[4] भारत के प्रमुख दर्शनों के अपने-अपने सूत्रग्रंथ हैं-

---

1. भागवत - 1.7.10
2. वही 12.12.52
3. प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकांगोऽतिनिर्वृतः ।
   आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ।। वही 1.6.18
4. स्वल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।
   अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।। हिन्दी साहित्यकोश - पृ. 936

जैसे वेदान्त-सूत्र, योगसूत्र आदि ।

भक्ति-दर्शन पर भी आचार्यों ने सूत्र-ग्रंथ लिखे हैं । इनमें सबसे विख्यात दो ग्रंथ हैं शांडिल्य भक्तिसूत्र और नारद भक्तिसूत्र ।

शांडिल्य भक्तिसूत्र

शांडिल्य भक्तिसूत्रों के रचयिता शांडिल्य नामक ऋषि माने जाते हैं । संस्कृत वाङ्मय में शांडिल्य नामक ऋषियों का उल्लेख विभिन्न कालखंडों में पाया जाता है । अतः सूत्रकार शांडिल्य के बारे में किसी निर्णय पर आना कठिन बन जाता है । शांडिल्यसूत्र - स्वप्नेश्वर भाष्य के अनुवाद में स्वामी हर्षानन्द ने शाण्डिल्य को सन् 200 और 900 ई. के बीच का व्यक्ति स्थापित किया है ।[1]

"शांडिल्य भक्तिसूत्र" में कुल 100 सूत्र हैं । इन सौ सूत्रों को तीन अध्यायों में प्रस्तुत किया गया है । प्रत्येक अध्याय के दो आह्निक हैं । इस ग्रंथ में वेदान्त के विषयों की चर्चा है । प्रमाण, प्रमेय, साधना और मुक्ति इसमें वर्णित हैं । प्रमाण ज्ञान-प्राप्ति के उपाय हैं और प्रमेय ज्ञातव्य है । शाण्डिल्यसूत्रों में प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द को प्रमाण माना गया है ।[2] जीव, ईश्वर और जगत् प्रमेय हैं । ईश्वर को परा, चित् और

---

1. Sandilya Bhakti Sutras with Swapheswara Bhashya - P.XIX

2. वही - पृ. XIII

भजनीय कहा गया है । सृष्टि केवल ईश्वर से ही संपन्न होती है । माया या प्रकृति का रूपान्तर है जगत् । ईश्वर से अभिन्न होने के कारण यह सत्य है ।[1] जीव के बारे में कहा गया है कि वह ईश्वर से अभिन्न है । परंतु बुद्धिरूपी उपाधि से मिलने के कारण जीव-ईश्वर अलगाव होता है ।

शांडिल्य भक्तिसूत्रों का भक्ति-विवेचन

शांडिल्य ने अपने भक्तिसूत्रों में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर की भक्ति न होना ही सांसारिक बंधन का कारण है । सांसारिक बंधन का कारण ईश्वर-ज्ञान का अभाव नहीं है ।[2] इसको स्थापित करने के लिए उन्होंने श्रुति के एक मंत्र[3] को प्रमाण-रूप मानकर यह सूत्र लिखा -

ज्ञानमिति चेन्न, द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थिते ।[4]

अर्थात् श्रुति-मंत्र के "संस्था" शब्द का अर्थ ज्ञान नहीं भक्ति है । इस प्रकार मुक्ति का एकमात्र उपाय भक्ति है ।

भक्ति ईश्वर में परम प्रेम है ।[5] भक्ति का स्वरूप व्यक्त

---

1. **Sandilya Bhakti Sutras with Swapneswara Bhashya - P.XXVI**
2. संसृतिरेषामभक्तिः स्यान्नाज्ञानात् कारणास्तिद्धेः । शाण्डिल्य सूत्र - 98
3. ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । छान्दोग्य उपनिषद् 2.23.2
4. शांडिल्य सूत्र 4
5. सा परानुरक्तिरीश्वरे । शा. सू. 2

करते हुए शांडिल्य आगे बताते हैं कि भक्ति राग-रूप है । रागमय होने पर भी वह हेय नहीं है क्योंकि यहाँ प्रेम-पात्र स्वयं प्रभु हैं ।[1] शांडिल्य ने भक्ति के परा और गौणी- इस प्रकार दो भेद किए हैं । उन्होंने पराभक्ति के लक्षण बताते हुए लिखा है -

सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमाख्याति-
तदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रतिकूल्यादीनि च
स्मरणेभ्यो बाहुल्यात् ।[2]

अर्थात् सम्मान, श्रद्धा, प्रीति, विरह, अनन्यता, स्तुति, ईश्वरार्थ जीवन, सब कुछ ईश्वर का मानना, ईश्वर को सर्वत्र अनुभव करना, ईश्वरेच्छा का विरोध न करना आदि श्रुतियों में वर्णित भक्ति-लक्षण हैं । जब ये लक्षण सहज ही दिखाई पड़ेंगे तब ये पराभक्ति के लक्षण हैं । साधना के रूप में इनका अभ्यास करके पराभक्ति प्राप्त की जा सकती है ।[3] इस प्रकार साधना क रूप में आचरण किए जाने पर उपर्युक्त लक्षण गौणी भक्ति बन जाते हैं ।

गौणी भक्ति के गीता में वर्णित आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी - ये तीन भेद शांडिल्य ने भी स्वीकार किए हैं ।[4] गीता में कहे गए कीर्तन, नमस्कार, अनन्य चिन्तन, यजन, अर्पण आदि गौणी भक्ति के भेद हैं ।[5] इनका लक्ष्य

---

1. हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात् । शा.सू.2।
2. वही 44
3. **Sandilya Bhakti Sutras with Swapneswara Bhashya - P.XXIX**
4. गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम् । शा.सू 72
5. शा.सू. 58 पर स्वप्नेश्वर भाष्य ।

हृदय को शुद्ध करके पराभक्ति का उदय कराना है ।[1] इनमें किसी एक का भी अभ्यास भगवत्कृपा के लिए पर्याप्त है ।[2]

भक्तिसाधनाएँ

भक्तिसाधनाओं के बारे में बताते हुए शांडिल्य कहते हैं कि सारी साधनाएँ कर्म रूप हैं । समस्त कर्मों के बीच इन साधनाओं का स्थान सबसे ऊँचा है ।[3] साधना में शांडिल्य सगुण-साकार की उपासना पर बल देते हैं ।[4] लेकिन वे ईश्वर को किसी भी नाम या रूप में सीमित नहीं करते । वे ईश्वर के सभी प्रसिद्ध अवतारों और रूपों की उपासना निर्दिष्ट करते हैं ।[5] उसी प्रकार भक्ति के अधिकारी को निश्चित करने में भी शांडिल्य उदारता दिखाते हैं । उनके मतानुसार चाण्डाल पर्यन्त सभी प्रकार के मनुष्य भक्ति के अधिकारी हैं ।[6]

---

1. ताभ्यः पावित्र्यमुपक्रमात् । शा. सू. 59
2. ईश्वरतुष्टेरकोऽपि बली । वही 63
3. सुकृतजत्वात् परहेतुभावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः । शा. सू. 7।
4. अत एव गोपीनां शिशुपालादेश्च तन्नियमान्तरेणैव ध्यानस्य दुर्लभं फलमुपलब्धमिति । शा. सू. 65 पर स्वप्नेश्वर भाष्य ।
5. एवमनेन प्रकारेण वासुदेववत् ब्रह्मलिंगवत्तया प्रसिद्धेषु वराहनृसिंहवामनरामभद्रादिषु भक्तिरपि मुक्तिफलायेति । शा. सू. 55 पर स्वप्नेश्वर भाष्य ।
6. आनिंद्ययोन्यधिक्रियते पारंपर्यात् सामान्यवत् । शा. सू. 78

भक्तिसाधना में शांडिल्य ने ज्ञान और योग को भी स्थान दिया है । उनके मत में ज्ञान मुक्ति का उपाय नहीं हैं । इसके विपरीत उन्होंने ज्ञान को भक्ति का अंग, या पराभक्ति प्राप्त करने की साधनाओं में एक, माना है ।[1] योग के बारे में वे कहते हैं कि योग मन की एकाग्रता में सहायक होने के कारण ज्ञान और भक्ति दोनों का अंग है ।[2]

भक्ति का महत्व

भक्ति का महत्व स्पष्ट करनेवाले अनेक सूत्र शांडिल्य भक्तिसूत्रों में मिलते हैं । पराभक्ति से ही सांसारिक बन्धनों से मुक्ति संभव है । इसलिए भक्ति का महत्व सबसे अधिक है । इसके महत्व के दूसरे अनेक कारण भी हैं । जैसे, चाण्डाल पर्यन्त सब प्रकार के मनुष्य इसके अधिकारी हैं । बडे से बडे पापी भी आर्त-भक्ति का आश्रय लेकर भक्त बन सकते हैं ।[3] ईश्वर के स्मरण, कीर्तन आदि से आर्त भक्त अपने पापों का नाश कर सकते हैं, उन्हें दूसरे प्रकार के प्रायश्चित्तों की कोई ज़रूरत नहीं हैं ।[4] भक्ति के महत्व का एक दूसरा कारण यह भी है कि पराभक्ति के साधकों की गौणी भक्ति का अधिकाधिक फल होता है ।[5] अर्थात् उनको चित्तशुद्धि, पापनाश आदि में अधिकाधिक सफलता प्राप्त होती है ।

---

1. शा. सू. 17 पर स्वप्नेश्वर भाष्य ।
2. योगस्तुभयार्थमपेक्षणात् प्रयाजवत् । शा. सू. 19
3. महापातकिनां त्वार्तौ । वही 82
4. स्मृतिकीर्त्योः कथादेशचार्तौ प्रायश्चित्ताभावात् । वही 74
5. तासु प्रधानयोगात् फलाधिक्यमित्येके । वही 60

शांडिल्यभक्तिसूत्रों का महत्व

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि "शांडिल्यभक्तिसूत्र" में भक्ति का सर्वांगीण वर्णन हुआ है । साथ ही ईश्वर, जीव आदि सैद्धान्तिक बातों की भी चर्चा इसमें युक्तियुक्त एवं तर्क संगत ढंग में किया गया है । ब्रह्मसूत्र, उपनिषद्, महाभारत, पुराण आदि ग्रंथों से प्रमाण देकर शांडिल्य ने अपने सिद्धांतों की पुष्टि की है । इसके सूत्र अत्यंत अर्थगर्भित हैं । अतः संस्कृत के अनेक पंडितों ने इस पर भाष्य लिखकर इसके सूत्रों के भावों पर प्रकाश डाले हैं ।[1] हम कह सकते हैं कि केवल सौ सूत्रोंवाला यह छोटा ग्रंथ भक्तिशास्त्र में निस्संदेह एक ऊँचे स्थान का अधिकारी है ।

नारद भक्तिसूत्र

भक्ति सिद्धांत विषयक जितने ही प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध हैं उनमें नारद भक्तिसूत्र प्रमुख हैं । इस ग्रंथ के रचयिता के संबंध में कोई निष्कर्ष निकालना कठिन है । संस्कृत साहित्य के विभिन्न कालखंडों में नारद नामक व्यक्ति कार्यरत दिखाई पडते हैं । वाल्मीकिरामायण में आदिकवि को काव्य-रचना करने की प्रेरणा देते हुए नारद उपस्थित हैं ।[2] श्रीमद् भागवत में व्यास की चिंता दूर करने के लिए भागवत रचना करने का आदेश देनेवाले भी ये ही हैं।[3]

---

1. शांडिल्य भक्तिसूत्र के प्रमुख संस्कृत भाष्य हैं - 1. स्वप्नेश्वर भाष्य 2. भावदेव भाष्य और 3. नारायणतीर्थ भाष्य {भक्तिचंद्रिका}

2. श्रुत्वा चैतत्त्रिलोकज्ञो वाल्मीकेर्नारदो वचः ।
   श्रूयतमिति चामंत्र्य प्रहृष्टो वाक्यमब्रवीत् ।। वाल्मीकिरामायण 1.1.6

3. श्रीमद्भागवत - प्रथम स्कंध - अध्याय पाँच

पद्मपुराण में नारद को भक्ति की पुनः प्रतिष्ठा करनेवाले के रूप में दिखाया गया है ।[1]

नारद के नाम में प्रचलित भक्तिसूत्रों के बारे में विद्वानों का मत है कि इसका प्रस्तुत रूप बारहवीं शताब्दी इसवी के पूर्व का नहीं है ।[2] इस ग्रंथ के उन्नीसवें सूत्र "नारदस्तु तदर्पिताखिलाचरता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति च" के आधार पर इसे नारद के सिद्धांतों का किसी दूसरे व्यक्ति द्वारा किया गया संग्रंथन भी माना जाता है । इसके अन्तिम सूत्र में तो स्पष्ट कहा गया है कि यह नारदप्रोक्त हैं । यहाँ यह बात तो याद रखने योग्य है कि प्राचीन काल में शास्त्रों का अध्ययन मौखिक परंपरा से किया जाता था । इसलिए नारद के शिष्य परंपरा में आए किसी व्यक्ति द्वारा बाद में लिपिबद्ध किया गया ग्रंथ मानने पर भी इन भक्ति सूत्रों के रचयिता नारद ही ठहरते हैं ।

नारद भक्तिसूत्रों का विषय

नारद भक्तिसूत्र भक्ति को तर्क के बल पर प्रतिष्ठित करनेवाला ग्रंथ नहीं है । यह अनुभूति के आधार पर भक्ति की व्याख्या करनेवाला ग्रंथ है । इसलिए इसमें खण्डन-मण्डन, प्रमाणों की प्रस्तुति आदि का अभाव-सा है । इसमें सूत्रकार ने भक्ति की दार्शनिक व्याख्या न करके भक्ति का स्वरूप,

---

1. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड - अध्याय 1,2,3
2. भक्तिशास्त्र, वेल्लोट्टु करुणाकरन नायर, पृ. 20

उसके भेद, साधन आदि का वर्णन किया है । भक्ति की व्याख्या करते वक्त उनकी दृष्टि अपेक्षाकृत भावुक और व्यावहारिक है । इसमें भक्ति के स्वरूप, लक्षण आदि के साथ भक्तों के आचरणों की मार्मिक प्रस्तुति भी हुई है । यह साधकों को अत्यंत सहायक सिद्ध होता है । साथ ही भक्ति मार्ग के अन्तरायों के प्रति साधकों को सचेत भी किया गया है ।

नारदभक्तिसूत्रों में कुल चौरासी सूत्र हैं । इन्हें पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है । इनमें भक्ति के स्वरूप, लक्षण, महत्व, साधन आदि के संबंध में अतिसंक्षिप्त रूप में अत्यंत महत्वपूर्ण बातें कही गई हैं ।

भक्ति की परिभाषा

भक्ति की परिभाषा देते हुए नारद ने दूसरे सूत्र में कहा है कि ईश्वर में परम-प्रेम भक्ति है ।[1] ईश्वर के लिए नारद ने मुख्यतः "तत्" सर्वनाम का प्रयोग किया है । इससे स्पष्ट है कि नारदप्रोक्त भक्ति किसी भी देवता-संकल्प को लक्ष्य करके की जानेवाली नहीं है । जहाँ ईश्वर या भगवान् शब्द प्रयुक्त हुआ है, वहाँ भी भक्त के प्रेमास्पद को किसी व्यक्ति-विशेष में सीमित नहीं कर दिया गया है । इस प्रकार के ईश्वर में परम प्रेम रूपा भक्ति अमृत स्वरूपा है ।[2] जिसने इस भक्तिरूपी अमृत का एक बार आस्वादन कर लिया है, वह उस अनुभूति का वाणी द्वारा वर्णन नहीं कर सकता है । इसलिए

---

1. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । ना. भ. सू. 2
2. अमृतस्वरूपा च । वही. 3

भक्ति का स्वरूप अनिर्वचनीय भी कहा गया है ।[1] भक्तिरूपी अमृत के आस्वादन का आनन्द अन्दर ही अनुभव किया जा सकता है । गूँगा मनुष्य किसी मधुर वस्तु का आस्वादन करके जिस प्रकार उस स्वाद के बारे में कुछ कह नहीं सकता है, उसी प्रकार भक्तिरसामृत का पान करनेवाला बडभागी व्यक्ति भी तृप्त होकर मूक बन जाता है ।[2]

भक्ति के लक्षण

भगवान में प्रेमाभक्ति सत्पात्रों में प्रकट होती है । इस प्रकार की भक्ति प्राप्त करके वह व्यक्ति भक्ति को ही देखता है, भक्ति को ही सुनता है, भक्ति का ही वर्णन करता है और भक्ति का ही चिंतन करता है ।[3] अर्थात् समस्त अंग केवल उसी का अनुभव करते हैं । संपूर्ण इन्द्रियाँ उसी को विषय करती हैं । इस प्रकार के भक्तों में जाति, कुल, धन, विद्या, कर्म आदि को लेकर कोई भेदभाव नहीं है,[4] क्योंकि सारे भक्त भगवान के हैं ।[5] इस तरह के भक्तों के आदर्श के रूप में नारद ने व्रज गोपिकाओं को प्रस्तुत किया है ।

भक्ति के स्वरूप विश्लेषण क अवसर पर नारद ने पूर्वाचार्यों के मत उद्धृत किए हैं । भक्ति के लक्षण के रूप में पूजा में अनुराग, कथा में

---

1. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् ।ना.भ.सू.5।
2. मूकास्वादनवत् । वही 52
3. तत्प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव भाषयति तदेव श्रृणोति तदेव चिंतयति । वही 55
4. नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादिभेदः । वही 72
5. यतस्तदीयाः । वही 73.

अनुरागऔरआत्मरामता का उल्लेख किया गया है ।[1] इनमें आत्मारामता का बडा महत्व है । यह एक ऐसा तत्व है जिसके होने पर ही अन्य समस्त लक्षण सच्चे अर्थ में भक्ति के लक्षण बन जाते हैं । वे ही पूजा-विधियाँ भक्ति के अंतर्गत आती हैं जो इष्टदेव के प्रति हृदय की भावनाओं में प्रेम का स्फुरण करें ।[2] पूर्वाचार्यों के अभिप्राय उद्धृत करने के बाद नारद ने अपना मत यों प्रकट किया है कि भक्ति समस्त कर्मों का भगवदर्पण और भगवान की विस्मृति में परम व्याकुलता है ।[3]

भक्ति के भेद

नारद ने कहीं कहीं प्रत्यक्ष ढंग से और कहीं कहीं परोक्ष ढंग से भक्ति के प्रकारों को सूचित किया है । प्रथम और द्वितीय अध्यायों के नामों से "पराभक्ति" की ओर संकेत किया गया है ।[4] यह पराभक्ति समस्त साधनाओं का साध्य है । साधक पराभक्ति की प्राप्ति के लिए जिस साधना भक्ति का अभ्यास करते हैं, वह गौणी भक्ति है । इसके भेदों को एक सूत्र में अत्यंत संक्षेप में ही बताया गया है । छप्पनवें सूत्र में बताया गया है कि गुणभेद और आर्तादि भेद के अनुसार गौणी भक्त तीन-तीन प्रकार के होते हैं ।[5] इनमें, गुणों के आधार पर जिन तीन प्रकार के भक्तों का उल्लेख हुआ है उनकी

---

1. पूजादिष्वनुराग: इति पाराशर्य: ।
   कथादिष्विति गर्ग: । आत्मरत्यविरोधेनेति शाण्डिल्य: । ना.भ.सू. 16, 17, 18
2. दिव्य-प्रेम नारद भक्तिसूत्र, स्वामी चिन्मयानन्द, पृ. 36
3. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलतेति च ।ना.भ.सू. 19
4. परभक्तिस्वरूपम्, परभक्ति महत्वम्
5. गौणी त्रिधा गुणभेदात् आर्तादि भेदाद्वा । ना.भ.सू. 56

भक्ति का स्वरूप श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय में वर्णित है ।[1] तीन गुण सत्व, रज और तम है । इनके अनुसार सात्विक, राजस और तामस भक्ति होते हैं । आर्तादि भेद के अनुसार जिन तीन प्रकार के भक्तों का उल्लेख हुआ है, उनका वर्णन श्रीमद्भागवद्गीता के सातवें अध्याय में मिलता है ।[2] उसके अनुसार तीन प्रकार के गौणी भक्त हैं आर्त, जिज्ञासु और अर्थार्थी । इनकी भक्ति क्रमशः आर्त भक्ति, जिज्ञासा भक्ति और अर्थार्थी भक्ति होंगी ।

साधना भक्ति के अभ्यास से जब भक्ति स्वतः होने लगती है तब वह ऐकान्तिक बन जाती हैं।[3] यह एकान्तिक भक्ति ही मुख्य भक्ति है । इसके ग्यारह भेद हैं । वे हैं: गुणमहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति, पूजासक्ति, स्मरणासक्ति, दास्यासक्ति, सख्यासक्ति, वात्सल्यासक्ति, कान्तासक्ति,

---

1. अभिसंधाय यो हिंसां दंभं मात्सर्यमेव वा ।
   संरंभी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः ।।
   विषयानभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
   अर्चादावर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः ।।
   कर्मनिर्हारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
   यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्विकः ।। श्रीमद्भागवत 3.29.7-10
2. चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
   आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।। श्रीमद्भागवद्गीता 7.16
3. साधनानन्तरमवश्यंभावित्वं ऐकान्तिकत्वम् ।
   नारद भक्ति सूत्रहृह्ल, स्वामी सिद्धिनाथानन्द, पृ. 143

आत्मनिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परमविरहासक्ति ।[1]

भक्तिसाधनाएँ

भक्तों के अलौकिक व्यवहारों का वर्णन करते हुए नारद ने कहा है कि भगवान् का प्रेमी भक्त विधि-निषेधों के ऊपर उठ जाता है ।[2] लेकिन उस प्रकार की भक्ति प्राप्त करने के लिए भक्ति साधक को कुछ साधनाओं से गुज़रना पडता है । उन्हें शास्त्रों के अनुकूल आचरण करना चाहिए ।[3]

भक्ति की प्राप्ति के सामान्य साधन हैं आसक्ति और विषय सेवन का त्याग । उसके साथ अखण्ड भजन भी आवश्यक है । नारद के मत में भक्ति की प्राप्ति में लौकिक कर्म कदापि बाधक नहीं है । उनका निष्काम रूप से आचरण एक अनिवार्य साधना है ।

इन सब प्रयत्नों से बढकर कृपा को नारद महत्व देते हैं । यह कृपा मुख्यतः महात्माओं से प्राप्त होती है ।[4] वास्तव में महत्कृपा

---

1. गुणमाहात्म्यासक्तिरूपासक्तिपूजासक्तिस्मरणासक्तिदास्यासक्तिसख्यासक्ति वात्सल्यासक्तिकान्तासक्ति आत्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्ति रूपा एकधा अपि एकादशधा भवन्ति । ना.भ.सू. 82
2. यो वेदानपि संन्यस्यति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते । वही 49
3. भवतु निश्चयदार्ढ्यादूर्ध्वं शास्त्ररक्षणम् । वही 12
4. मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवत्कृपालेशाद्वा । वही 38

भगवत्कृपा ही है, क्योंकि भगवान् और उनके भक्त महात्माओं में अभेद है ।[1] इसीलिए नारद महत्संग पाने का आह्वान भी देते हैं ।

भक्ति का महत्व

नारद भक्तिसूत्रों में बताया गया है कि भक्ति प्राप्त करके मनुष्य सिद्ध, अमृत और तृप्त बन जाता है ।[2] भक्ति की प्राप्ति के बाद मनुष्य और किसी वस्तु की कामना नहीं करता है, किसी के लिए शोक नहीं करता है, संसार की अन्य वस्तुओं को प्राप्तकर आनन्दित नहीं होता है और न उनकी प्राप्ति की इच्छा ही रखता है ।[3] भक्ति मनुष्य को आत्माराम बना देती है

ऐसे भक्तों से तीर्थ भी पवित्रता प्राप्त करते हैं, शास्त्रों की प्रामाणिकता सिद्ध होती है और उनके कर्म दुनिया के लिए आदर्श बनते हैं ।[4] इनके कारण पितरगण आनन्दित होते हैं, देवता नृत्य करते हैं और धरती सनाथा बनती है ।[5]

---

1. तस्मिन् तज्जने भेदाभावात् ।ना.भ.सू.4।
2. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति । वही 4
3. यत्प्राप्य न किंचिद् वांछति, न शोचति, न द्वेष्टि, न रमते, नोत्साही भवति । ना.भ.सू.5
4. तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि, सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि, सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि । वही 69
5. मोदन्ते पितरो, नृत्यन्ति देवता: सनाथा चेयं भूर्भवति । वही 7।

साधना की दृष्टि से भी भक्ति का बडा महत्व है । नारद की राय में कर्म, ज्ञान और योग से बढकर भक्ति श्रेष्ठ है । भगवान् दैन्य के प्रति आकृष्ट होते हैं, उन्हें अभिमान तनिक भी प्रिय नहीं है ।[1] यह दैन्य भाव कर्म, ज्ञान, योग आदि से नहीं, वरन् भक्ति से ही प्राप्त किया जा सकता है ।

नारद भक्तिसूत्रों का महत्व

उपर्युक्त विवेचन से भक्ति विषय में "नारदभक्तिसूत्रों" की मान्यताएँ स्पष्ट होती हैं । नारद भक्तिसूत्र पूर्ण रूपेण भक्ति को ही लेकर चलनेवाला ग्रंथ है । इसमें भक्ति के अलावा किसी भी विषय की चर्चा नहीं हुई है । भक्ति का जो विवेचन इसमें हुआ है, वह संक्षिप्त, सूक्ष्म, स्पष्ट एवं सर्वांगीण है । इन कारणों से भक्तिशास्त्र की लंबी परंपरा में इसे एक ऊँचा स्थान प्राप्त हुआ और यह अत्यंत लोकप्रचलित हुआ । भक्ति संबंधी अध्ययनों के लिए एक श्रेष्ठ आधार-ग्रंथ के रूप में नारदभक्तिसूत्र अत्यंत उपयोगी है ।

भक्तिरसामृतसिंधु

भारत के भक्ति-आचार्यों में किसी भी प्राचीन ऋषि के समकक्ष रखने योग्य महान् विभूति है चैतन्य महाप्रभु । जब नादिया में सन् 1485 ई. में चैतन्यदेव का जन्म हुआ, तब बंगाल के वैष्णव धर्म में एक महान् आन्दोलन की

---

1. ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च । वही 27

लहर दौड गई । महाप्रभु ने सिद्धांत निरूपण के लिए किसी ग्रंथ की रचना नहीं की थी । इनके रचे केवल दस श्लोक प्राप्त होते हैं ।[1] लेकिन उनके शिष्यों ने आचार्य के जीवन काल में ही चैतन्य-मत को बहुत आगे बढा दिया । उनके शिष्यों में वृन्दावनदासी षट् गोस्वामी प्रमुख हैं जिन्होंने शास्त्र-प्रणयन करके भक्ति साहित्य पर अपनी प्रामाणिकता की छाप लगाई ।

इन षट्गोस्वामियों में रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी के नाम उल्लेखनीय हैं । ये दोनों भ्राता थे । बंगाल के नवाब हुसेन शाह का मंत्रीपद त्यागकर इन्होंने महाप्रभु की शरण ली थी । इनमें अनुज रूप गोस्वामी को दस मास तक चैतन्य के निकट संपर्क में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था । चैतन्य की विचारधारा को जितनी गहराई से इन्होंने समझा और प्रतिपादित किया, वैसा अन्य कोई शिष्य नहीं कर सका । रूप गोस्वामी की अमर रचना है - भक्तिरसामृतसिंधु जिसमें भक्तिसाधना, भक्ति-महिमा तथा भक्तिरस का समग्र वर्णन हुआ है ।

वास्तव में चैतन्यदेव के संपर्क में आने के पहले भी रूपगोस्वामी के मन में भक्ति उमडती थी । उन्होंने पहले ही "दानकेलिकौमुदी" नामक एक कृष्ण भक्तिपरक रचना कर डाली थी । उनके द्वारा रचित तेरह ग्रंथों का उल्लेख उनके जीवन चरितकारों ने किया है । वे हैं -

---

1. भक्ति-आन्दोलन का अध्ययन -डा.शांतिभानु सिंह नाहर - पृ. 300

1. हंसदूत
2. उद्धवसन्देश
3. अष्टादश छन्द
4. उत्कालिका वल्लरी
5. गोविन्द विरुदावली आदि स्तोत्र
6. दानकेलिकौमुदी
7. भक्तिरसामृतसिंधु
8. उज्ज्वलनीलमणि
9. मथुरामहिमा
10. पद्यावली
11. नाटक-चंद्रिका
12. संक्षिप्त भागवतामृत

और

13. ललित माधव

भक्तिरसामृतसिंधु का विषय

भक्तिरसामृतसिंधु रूप गोस्वामी की सबसे प्रमुख रचना है । इसमें उन्होंने साहित्य में स्वीकृत रसों को भक्ति में पर्यवसित किया है । उनके समय में भक्ति को साहित्य में रसकोटिक स्थान प्राप्त नहीं था । इसलिए रूप गोस्वामी ने रस के समस्त उपकरणों का यथावत् ध्यान रखते हुए स्थायी भाव भगवद्रति की स्थापना करके भक्तिरस को साहित्यिक धरातल पर खडा कर दिया । उन्होंने भक्तिरसामृतसिंधु में विभिन्न पुराणों, तन्त्र शास्त्र, महाभारत आदि से अनेक श्लोक भी उद्धृत किए हैं जिससे उनके सिद्धांतों की प्रामाणिकता असंदिग्ध रूप से स्थापित हुई है ।

भक्तिरसामृतसिंधु भक्तिरस का शास्त्रीय विवेचन करनेवाला एक श्रेष्ठ काव्यशास्त्र ग्रंथ है । लेकिन इसे केवल एक काव्यशास्त्र ग्रंथ मानना

---

1. हिन्दी भक्तिरसामृतसिंधु - पृ. 15

इसके स्वरूप को सीमित करना होगा । आधुनिक समय के विख्यात वैष्णव आचार्य भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद ने भक्तिरसामृतसिंधु को काव्यरस का विवेचन करनेवाले ग्रंथ के रूप में नहीं, बल्कि भक्ति साधना में मार्गदर्शन करानेवाले ग्रंथ के रूप में देखा है । उनके शब्दों में "भक्तिरसामृतसिंधु में निर्दिष्ट भक्ति-साधनाएँ ाक्ति को भौतिक जीवन से धीरे धीरे आध्यात्मिक जीवन की ओर ले चलेंगी, जहाँ भक्त सारी उपाधियों से मुक्त हो जाता है ।"[1]

भक्तिरसामृतसिंधु में मुख्य रूप से कृष्ण की उपासना और कृष्ण भक्ति का ही उल्लेख हुआ है । ऊपरी दृष्टि से देखने पर प्रतीत होगा कि इसकी भक्ति का आश्रय अकेला श्रीकृष्ण है । यहाँ स्पष्टीकरण की आवश्यकता है । जब ग्रंथकार कृष्ण के बारे में कहते हैं तब उसका तात्पर्य पुरुषोत्तम भगवान् और उनकी विभूतियों से है । दूसरे शब्दों में, "कृष्ण" से तात्पर्य सबकुछ से हैं और "कृष्ण" में सब कुछ समाविष्ट है । फिर भी मोटे तौर पर कृष्ण से उनकी व्यक्तिगत विभूतियों {अवतारों} को लेना चाहिए । बलदेव संकर्षण, वासुदेव,

---

1. The process of devotional service as it is recommended in the Nectar of Devotion will gradually elevate one from the material condition of life to the spiritual status, wherein the devotee becomes purified of all designations.
   Swami Bhaktivedanta Prabhupada-
   The Nectar of Devotion, P.Xiii

अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, राम, नृसिंह, वराह तथा अन्य अवतार इनमें आते हैं ।[1]

भक्तिरसामृतसिंधु का भक्तिविवेचन

भक्तिरसामृतसिंधु में भक्ति रस के शास्त्रीय विवेचन के साथ साथ भक्ति का सामान्य विवेचन भी हुआ है । भक्ति के प्रकारों का वर्णन करनेवाले "पूर्व विभाग" में भक्ति का यह सामान्य विवेचन आया है । रूप गोस्वामी ने अपने ग्रंथ को "भक्तिरसामृतसिंधु" नाम देकर इसका विभाजन भी तदनुरूप किया है । चारों दिशाओं में स्थित चार समुद्रों के समान भक्तिरसामृत सिंधु के भी चार विभाग हैं । इन को पूर्व विभाग, दक्षिण विभाग, पश्चिम विभाग तथा उत्तर विभाग नाम दिए गये हैं ।। पूर्व विभाग में भक्ति के भेदों का सामान्य निरूपण है । इसे चार लहरियों में विभक्त किया गया है । पहली लहरी में भक्ति का सामान्य विवेचन मिलता है । दूसरी लहरी में साधनभक्ति, तीसरी में भावभक्ति और चौथी में प्रेमभक्ति का वर्णन है ।

सामान्य भक्ति

प्रथम लहरी में सामान्य भक्ति का वर्णन करते हुए भक्ति का

---

1. When we speak of Krishna we refer to the Supreme Personality of Godhead, along with His many expansions.... Krishna expands Himself as Baladeva Samkarshana, Vasudeva, Aniruddha, Pradyumna, Nrisimha, Rama and Varaha as well as many other incarnations. The Nectar of Devotion-Swami Bhaktivedanta Prabl P.XXi

स्वरूप -लक्षण और तटस्थ-लक्षण प्रस्तुत किया गया है । अन्य किसी की अभिलाषा से शून्य, ज्ञान और कर्म आदि से अनाच्छादित, सर्वथा अनुकूल भावना से श्रीकृष्ण का अनुशीलन भक्ति है ।[1] भक्ति की विशेषता और स्पष्ट करते हुए रूप गोस्वामी ने इसके छः विशेषण भी दिए हैं - क्लेशों का नाश करनेवाली, कल्याण प्रदान करनेवाली, मोक्ष को भी तुच्छ बना देनेवाली, अत्यन्त दुर्लभ, सघन आनन्द से परिपूर्ण तथा भगवान् को अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली ।[2]

साधन भक्ति

दूसरी लहरी में साधनभक्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन है । जो भक्ति साधक के व्यापार से सिद्ध होती है और जिसके द्वारा भावभक्ति की सिद्धि होती है वह साधन भक्ति कहलाती है ।[3] वैधी और रागानुगा नाम से यह दो प्रकार की होती हैं ।[4] वैधी भक्ति की परिभाषा इस प्रकार है : जिस भक्ति में स्वाभाविक राग न होने के कारण केवल शास्त्र की आज्ञा के बल से साधक की प्रवृत्ति होती है वह वैधी भक्ति है ।[5] वैधी भक्ति समस्त

---

1. अन्याभिलषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
   आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा ।। भक्तिरसामृतसिंधु १.१.११
2. क्लेशघ्नी शुभदा मोक्षलघुताकृत् सुदुर्लभा ।
   सान्द्रानन्दविशेषात्मा श्रीकृष्णाकर्षणी च सा ।। वही १.१.13
3. कृतिसाध्या भवेत् साध्यभावा सा साधनाभिधा ।। वही १.2.१
4. वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा । वही १.2.3
5. यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरूपजायते ।
   शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते । वही १.2.3,4

आश्रमों और वर्णों में अवश्य करणीय है ।[1] उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ भेद से वैधी भक्ति के तीन अधिकारी हैं ।[2] शास्त्र और तर्क में निपुण, निश्चय पर दृढ़ रहनेवाला, प्रौढ श्रद्धावान् व्यक्ति उत्तम अधिकारी है ।[3] शास्त्र में निपुण न होने पर भी उत्तम श्रद्धावान् व्यक्ति मध्यम कोटि का तथा शास्त्र में अनिपुण और दुर्बल श्रद्धावान् कनिष्ठ कोटि का है ।[4] वैधी भक्ति के चौंसठ अंग है । इनका विशद वर्णन भक्तिरसामृतसिंधु के द्वितीय लहरी के चौबीसवें श्लोक से लेकर चालीसवें श्लोक तक मिलता है । रूप गोस्वामी ने ज्ञान, वैराग्य, योग आदि को भक्ति का अंग नहीं माना है ।

साधन भक्ति का दूसरा भेद रागानुगा भक्ति है । इष्टदेव में स्वाभाविक रूप से परम आकर्षण का नाम राग है । जो भक्ति रागमयी है उसे रागात्मिका कहते हैं ।[5] रागानुगा के पुनः दो भेद हैं - कामरूपा और संबंधरूपा । कृष्ण के प्रति प्रेम का लोभ जिसके हृदय में हो, वही रागानुगा भक्ति का अधिकारी है ।[6]

---

1. इत्यसौ स्याद्विधिर्नित्यः सर्ववर्णाश्रमादिषु । वही 1.2.4
2. उत्तमो मध्यमश्चस्यात् कनिष्ठश्चेति स त्रिधा । वही 1.2.6
3. वही 1.2.7
4. वही 1.2.8
5. इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
   तन्मयी या भवेद् भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता ।। वही 1.2.81
6. तेषां भावाप्तये लुब्धो भवेदत्राधिकारवान् । वही 1.2.94

भावभक्ति

तीसरी लहरी में भावभक्ति का निरूपण है । जब भक्ति वैधी और रागानुगा के अभ्यास से विशुद्ध सत्वप्रधान और चित्त में विशेष प्रकार के द्रवीभाव को उत्पन्न करनेवाली बन जाती है तब उसको भाव कहते हैं ।[1] यह भावभक्ति भगवान् अथवा उनके भक्तों की कृपा से अथवा साधनानुष्ठान से उत्पन्न होती है । अतः उत्पत्ति की दृष्टि से इसके दो भेद हैं । भावभक्ति उत्पन्न होने पर भक्त में कुछ बाह्य चिह्न प्रकट होते हैं । शान्ति, समय को व्यर्थ न खोना, विषयों में विरक्ति, अभिमान-शून्यता, प्रत्याशा, समुत्कण्ठा, नामकीर्तन में रूचि, भगवान् के गुण गान में प्रेम आदि ऐसे लक्षण हैं ।[2] इस लहरी का उपसंहार करते हुए ग्रंथकार ने मुमुक्षुओं में भक्ति का अभाव सिद्ध किया है ।[3]

प्रेमा भक्ति

चौथी लहरी में प्रेमाभक्ति का निरूपण है । भाव और प्रेम दोनों साध्यभूत हैं । भावभक्ति प्रारंभिक दशा है और प्रेमभक्ति उससे उच्चतर दशा का नाम है । प्रेम की परिभाषा रूप गोस्वामी ने इस प्रकार दिया है- अन्तःकरण को अत्यन्त द्रवीभूत करा देनेवाला और अत्यधिक ममता से युक्त सान्द्रभाव ही प्रेम है ।[4] प्रेम के दो भेद हैं : एक अपने पूर्ववर्ती भाव से उत्पन्न

---

1. शुद्धसत्वविशेषात्मा प्रेमसूर्यांशुसाम्यभाक् ।
   रूचिभिश्चित्तमासृण्यकृदसौ भाव उच्यते ।। वही 1.3.1
2. वही 1.3. 12,13
3. मुमुक्षुप्रभृतीनां यद् भवेद्देषा रतिर्नहि । वही 1.3.17
4. सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः ।
   भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमो निगद्यते ।। वही 1.4.1

और दूसरा भगवत्कृपा से प्राप्त ।[1] साधकों में प्रेम के उत्पन्न होने की क्रमिक दशाएँ इस प्रकार हैं - सबसे पहले श्रद्धा, तदनन्तर साधुसंग, फिर क्रमशः भजन क्रिया, अनर्थ-निवृत्ति, निष्ठा, विश्वास, रुचि, आसक्ति, भाव और अन्त में प्रेम ।[2]

भक्तिरसामृतसिंधु का भक्तिरसविवेचन

भक्तिरसामृतसिंधु के दक्षिणविभाग में रूप गोस्वामी ने साहित्य शास्त्र की रस प्रक्रिया का अवलंबन कर भक्ति को स्वतंत्र रस सिद्ध करने का प्रयास किया है । भरतमुनि के "विभानुभावसंचारीसंयोगद् रसनिष्पत्तिः"[3] सूत्र के आधार पर रस विवेचन किया गया है । रससिद्धांत को यथावत् प्रस्तुत करते हुए यहाँ भक्ति रस का सांगोपांग वर्णन किया गया है । इस विभाग की पहली लहरी विभाव लहरी है । भक्तिशास्त्र में भी इसका कुछ महत्व है । इसमें पंचधा भक्ति का उल्लेख हुआ है ।[4] इस विभाजन का आधार पाँच मुख्य भक्तिरस है । इनका विशद निरूपण अगले विभाग अर्थात् पश्चिम विभाग में हुआ है । रूप गोस्वामी ने पाँच मुख्य भक्ति रस के रूप में शान्त, प्रीति, प्रेयान्,

---

1. भावोत्थोऽतिप्रसादोत्थः श्रीहरेरिति सद्विधा । वही 1.4.3
2. वही 1.46,7
3. नाट्यशास्त्र 6.32
4. भक्तास्तु कीर्तिताः शान्तास्तथा दाससुतादयः ।
   सखायो गुरुवर्गश्च प्रेयस्यश्चेति पंचधा ।।
   भक्तिरसामृतसिंधु 2.1.112

वत्सल और मधुर को स्वीकार किया है ।[1] पश्चिम विभाग की प्रत्येक लहरी में एक-एक रस का सांगोपांग निरूपण हुआ है । भक्तिरस का शास्त्रीय विवेचन भक्तिरसामृतसिंधु के अन्तिम विभाग अर्थात् उत्तर विभाग में भी चलता है । इस विभाग में नौ लहरियाँ हैं । प्रथम सात लहरियों में सात गौण रसों का वर्णन है । आठवीं लहरी में रसों की परस्पर मैत्री और वैर स्थिति तथा नवीं लहरी में रसाभासों का वर्णन है ।

भक्तिरसामृतसिंधु का महत्व

यद्यपि भक्तिरसामृतसिंधु का अधिकांश भाग, अर्थात् दूसरा, तीसरा तथा चौथा विभाग, भक्ति रस के शास्त्रीय विवेचन से संबंधित है फिर भी इसमें भक्ति को एक साधना तथा मनुष्य जीवन का चरम ध्येय भी माने गए हैं । साधना से संबंधित अनेक बातें इसमें आयीं हैं । भक्ति को मुक्ति से भी बढकर मनुष्य का परम लक्ष्य सिद्ध करनेवाले अनेक श्लोक इस ग्रंथ में, विशेष कर पूर्व विभाग में, आए हैं । भक्ति में मनुष्य मात्र का अधिकार सिद्ध करके रूप गोस्वामी ने अपने उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया है ।[2] कर्मों को भक्ति का अंग मानकर भक्तिरसामृतसिंधु ने भक्ति को क्रियात्मक सिद्ध किया है ।[3] भक्ति के भेद, उसके लक्षण आदि का सूक्ष्म एवं विशद वर्णन पूरे ग्रंथ में प्राप्त होता है ।

---

1. मुख्यतस्तु पंचधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः ।
   मधुरश्चेत्यमी श्रेया यथापूर्वमनुत्तमाः ।। वही 2.5.96,97
2. शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता । वही 1.2.19
3. सम्मतं भक्ति विज्ञानां भक्त्यंगत्वं तु कर्मणाम् । वही 1.2.66

इस प्रकार भक्ति का स्वरूप, भक्तिसाधना, भक्तों के भेद और लक्षण, भक्ति का महत्व आदि के सम्यक् निरूपण से भक्तिरसामृतसिंधु भक्तिशास्त्र में एक प्रमुख स्थान का अधिकारी बन गया है ।

निष्कर्ष

भारतीय भक्तिशास्त्र के इस संक्षिप्त परिचय से एक बात स्पष्ट होती है - भारत में भक्ति की विवेचना वेदकाल से ही लेकर चली आ रही है । ईश्वर की आराधना को सर्वाधिक महत्व देनेवाली संस्कृति होने के कारण भारतीय संस्कृति में भक्ति को बहुत ही ऊँचा स्थान मिला है । यहाँ के विभिन्न मतानुयायी आचार्यों ने भक्ति की अपनी-अपनी व्याख्या दी है, यह भी हम ने ऊपर देखा । शांडिल्य जैसे ऋषियों ने भक्ति को ईश्वर-प्राप्ति या मुक्ति का उपाय माना है तो नारद, रूप गोस्वामी आदि ने भक्ति को मुक्ति से भी श्रेष्ठ माना है । भगवद्गीता जैसे ग्रंथों ने द्वैत-अद्वैत के विवाद में न पडकर भक्ति को भगवत्प्रीति या भगवत्प्राप्ति का एकमात्र उपाय स्वीकार किया है । भक्ति का सबसे महत्वपूर्ण ग्रंथ श्रीमद्भागवत ने द्वैत-अद्वैत, प्रेम-ज्ञान, भक्ति-मुक्ति आदि की विशद व्याख्या करके भक्ति को सरल और श्रेष्ठ सिद्ध किया है । नारद भक्तिसूत्र एक ऐसा ग्रंथ है जो प्रमाणों के लिए उद्धरणों की ओर न जाकर एक सिद्ध भक्त की प्रामाणिकता को स्वीकार करके भक्ति संबंधी बातें प्रस्तुत करता है । उसी समय, रूप गोस्वामी का भक्तिरसामृतसिंधु उसकी शास्त्रीय एवं प्रामाणिक विवेचना से भक्ति रस के साथ साथ भक्ति के सभी अंगों का भी वर्णन करता दिखाई पडता है । इस प्रकार भक्तिशास्त्र की एक समृद्ध परंपरा हमें प्राप्त है जिसमें भक्ति को विविध दृष्टियों से विवोचित-वर्णित किया गया है ।

द्वितीय अध्याय

हिन्दी भक्ति साहित्य और तुलसीदास

हिन्दी साहित्य के इतिहास में चौदहवीं शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी के मध्य तक का समय भक्तिकाल है । इस अवधि में हिन्दी में भक्तिपरक कृतियों की रचना प्रचुर मात्रा में हुई । पन्द्रहवीं शताब्दी के आरंभ में आदिकालीन लौकिक तथा अलौकिक काव्य-धाराओं का रूप परिवर्तित होने लगा था । भक्तिकाल में आकर हिन्दी साहित्य में भारत की पुरानी परंपरा की आध्यात्मिकता का पुनः उदय हुआ । शंकराचार्य के सतत प्रयास से बहुत पहले ही बौद्ध धर्म के स्थान पर वैदिक धर्म की पुनः प्रतिष्ठा हो चुकी थी । लेकिन उनके अद्वैतवाद के सैद्धान्तिक पक्ष में भक्ति को उतना स्थान नहीं मिलता था, जितना कि ज्ञान और विचार को । इसलिए सैद्धान्तिक जगत् में रामानुज, मध्व, निम्बार्क, विष्णुस्वामी जैसे आचार्यों ने नये नये मतवाद प्रस्तुत किए, जिनका आधार शंकर अद्वैत में था ।[1] इनका प्रचुर प्रचार सारे भारत में हुआ । इनका प्रभाव हिन्दी साहित्य पर भी पडा ।

हिन्दी भक्ति साहित्य का आरंभ

हिन्दी में भक्ति साहित्य के आरंभ को लेकर कई भ्रामक सिद्धांत प्रचलित हैं । डा. ग्रियर्सन ने हिन्दी भक्ति साहित्य को ईसाइयों के प्रभाव का परिणाम बताया है । यह भी बताया गया है कि मुसलमानों के अत्याचारों से निराश होकर हिन्दुओं ने भगवान् की शरण ली थी । लेकिन ये सारी बातें हिन्दी भक्ति साहित्य के उद्भव का मूल कारण कदापि नहीं हैं । असल बात यह है कि जिस बात को ग्रियर्सन ने "अचानक बिजली की चमक के

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृ. 116

समान फैल जाना" लिखा है वह ऐसा नहीं है । उसके लिए "सैकडों वर्ष से मेघखंड एकत्र हो रहे थे ।"[1] सन् इस्वीं की सातवीं शताब्दी से दक्षिण में वैष्णव भक्ति ने बड़ा ज़ोर पकडा । इसके पुरस्कर्ता आलवार भक्त थे । आलवा का भक्तिवाद जन-साधारण की वस्तु थी, जो शास्त्र का सहारा पाकर सारे भारत में फैल गयी ।

यही बात उत्तर भारत के विषय में भी सत्य है । यहाँ भी साधारण जनता के बीच जो धर्म-भावना वर्तमान थी, उसे शास्त्र ने शक्तिशाली रूप में प्रकट किया । इन प्रदेशों में पौराणिक धर्म का प्रचार पहले से ही था । भक्ति के लिए जो बात नितान्त आवश्यक है, वह है भगवान् के ऐसे रूप की कल्पना जिसके साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित किया जा सके । उत्तर भारत की जनता विष्णु के विविध अवतारों में विश्वास करती थी । महाभारत में ही विष्णु के अवतार माने जाते थे और धीरे धीरे भागवत में आते आते भगवान् के अवतारों का विस्तृत वर्णन होने लगा । अवतार को माननेवाली दृष्टि में थोडा परिवर्तन भी हुआ । पहले विश्वास था कि भगवान् दुष्टों के दमन और साधुओं के परित्राण के लिए अवतार ग्रहण करते हैं ।[2] किन्तु बाद में इस दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ । भागवत के समय तक आते आते यह विश्वास किया जाने लगा कि भगवान् के अवतार का मुख्य हेतु भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए लीला विस्तार करना ही है ।[3] भक्त भगवान् के चरित का अनुशीलन

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 63
2. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
   धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। गीता 4.8
3. भवेऽस्मिन् क्लिश्यमानानामविद्याकामकर्मभिः ।
   श्रवणस्मरणार्हाणि करिष्यन्निति केचन ।। भागवत - 1.8.35

किसी अन्य उद्देश्य से नहीं, भक्ति पाने के उद्देश्य से करते हैं । भागवत का मुख्य प्रतिपाद्य विषय ऐकान्तिक भक्ति ही है । कैवल्य (मोक्ष) या अपुनर्भव को भी भक्त इसके सामने तुच्छ मानते हैं ।[1]

मध्यकालीन भक्ति साहित्य में अवतारवाद

मध्यकालीन भक्तिमार्ग में इसी ऐकान्तिक भक्ति का स्वर प्रबल रहा है । अवतारों की कल्पना ने इसको बहुत सहारा दिया । अवतारों से ही उस लीला का विस्तार होता है, जिसका श्रवण और मनन भक्ति का प्रधान साधन है । अवतारों की विविध लीलाओं के फलस्वरूप ही विविध नामों का उद्भव होता है, जिनका कीर्तन और जप भक्त के लिए बहुत आवश्यक साधन है । भक्ति के लिए भगवान् के साथ वैयक्तिक संबंध आवश्यक है और अवतार उस संबंध के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करते हैं । यही कारण है कि मध्ययुग के प्रायः सभी धार्मिक संप्रदायों ने किसी-न-किसी रूप में अवतार की कल्पना अवश्य की है । शिव के भी अनेक अवतारों की कल्पना की गई है । गोरखनाथ और मत्स्येन्द्रनाथ को शिव का अवतार माना गया है ।[2]

वैसे तो अवतारों की संख्या बहुत मानी गई है, परन्तु मुख्य अवतार राम और कृष्ण है । इन दो अवतारों की प्रधानता स्थापित होने का प्रधान कारण इनकी लीला की बहुलता है । शुरू के साहित्य और शिल्प में

---

1. न किंचित् साधवो धीरा भक्ताह्येकान्तिनो मम ।
   वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ।। भागवत - 11.20.34
2. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 64

इनका प्रधान चरित दुष्टों का दमन और भक्तों की रक्षा ही था, पर धीरे धीरे दुष्ट दमनवाला रूप दबता गया और लीला रूप ही प्रधान होता गया । श्री कृष्णावतार के दो मुख्य रूप है । एक में वे यदुकुल के श्रेष्ठ रत्न हैं, वीर हैं, राजा हैं । दूसरे में वे गोपाल हैं, गोपीजन वल्लभ हैं । प्रथमरूप का पता बहुत पुराने ग्रंथों से चल जाता है, परंतु दूसरा रूप अपेक्षाकृत नवीन है ।

रामावतार का महत्व भी बहुत अधिक रहा है । पुराने-से-पुराने अवतार प्रसंगों में भी श्री रामचन्द्र का उल्लेख मिलता है । कालिदास ने "रघुवंश" में विस्तारपूर्वक चर्चा की है कि किस प्रकार विष्णु को भूभार-हरण के लिए देवताओं ने प्रसन्न किया ।[1] हमेशा से श्रीरामचन्द्र दुष्ट-दमनकारी और मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में चित्रित हुए हैं ।

मनुष्य रूप में होने के कारण और मनुष्य को प्रभावित करनेवाली लीलाओं का आश्रय होने के कारण इन दो अवतारों को प्रधानता मिल गई है । तुलसीदास जी के बाद उत्तरी भारत में राम अवतार को बहुत प्रमुखता प्राप्त हो गई, परंतु कृष्णावतार की महिमा घटी नहीं, क्योंकि श्रीकृष्णावतार की लीलाओं में एक विचित्र मानवीय रस है । सख्य, वात्सल्य और माधुर्य का आश्रय होने के कारण यह चरित सार्वभौम आकर्षण का कारण बना है ।

---

1. इति प्रसादयामासुस्ते सुरास्तमधोक्षजम् ।
भूतार्थव्याहृतिः सा हि न स्तुतिः परमोष्ठिनः ।।
रघुवंश - 10.33

मध्यकालीन भक्ति आचार्य

रामानन्द

उत्तर भारत में भक्ति की धारा को नये सिरे से प्रवाहित करने का मुख्य श्रेय दो आचार्यों को है । वे हैं स्वामी रामानन्द और महाप्रभु वल्लभाचार्य । स्वामी रामानन्द का संबंध दो श्रेणी के भक्तों से बताया जाता है। एक तो वे जो निर्गुण भाव से राम के उपासक भक्त थे ; दूसरे वे जो राम की उपासना अवतार रूप में करते थे । इन दोनों प्रकार के भक्तों में प्रधान समानता केवल राम नाम की थी । मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन में रामानन्द का जितना महत्वपूर्ण स्थान है उतना दूसरे किसी का भी नहीं । इसके पहले भी कुछ भक्त-सन्तों की रचनाएँ प्राप्त होती हैं, परन्तु रामानन्द अपने पाण्डित्य और औदार्य के कारण सबसे श्रेष्ठ ठहरते हैं ।

ईसवीं सन् तेरहवीं शताब्दी के अन्त में रामानन्द का जन्म हुआ । नाभादास के भक्तमाल के अनुसार रामानन्द श्री रामानुजाचार्य की शिष्य परंपरा में चौथे शिष्य थे ।[1] कुछ पंडितों का दावा है कि रामानन्द चाहे जिस दृष्टि से रामानुज के मतावलम्बी क्यों न रहे हों, तत्व दृष्टि से उनके मतावलम्बी नहीं थे । कुछ दूसरे पंडित ठीक इसके विरुद्ध मत का प्रतिपादन करते हैं । वे तत्वदृष्टि से, तो रामानन्द को रामानुज का अनुयायी मानते हैं, पर उपासना पद्धति में एकदम अलग ।[2] वे इस संबंध में अपने संप्रदाय में बहुत

---

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा. रामकुमार वर्मा - पृ. 22।
2. वही - पृ. 22।

स्वतंत्र थे । उन्होंने श्री संप्रदाय के नारायण और लक्ष्मी के स्थान पर राम और सीता की भक्ति पर ज़ोर दिया ।[1] रामानन्द ने शास्त्रों के आधार पर जाति-बन्धन के महत्त्व को व्यर्थ सिद्ध किया । उन्होंने भक्ति की सर्वोत्कृष्टता सिद्धकर प्रत्येक जाति के लिए वैष्णव धर्म का दरवाज़ा खोल दिया । नाभादास के अनुसार सभी जाति के भक्त उनके शिष्य थे । उन शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं :-

अनन्तानन्द, सुरेश्वर, सुखानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, भवानन्द, पीपा, सेना, धना, रैदास, कबीर, गालवानन्द और पद्मावती ।[2]

रामानन्द के रचित तीन संस्कृत ग्रंथ प्राप्त होते हैं । एक तो वेदान्त सूत्रों पर "आनन्द भाष्य", दूसरा "श्रीरामार्चन पद्धति" और तीसरा "वैष्णव मताब्ज भास्कर" । "आनन्द भाष्य" के अनुसार अनन्य भक्ति ही मोक्ष का एकमात्र और अव्यवहित उपाय है । उसमें प्रपत्ति को मोक्ष का हेतु और कर्म को भक्ति का अंग बताया गया है । रामानन्द में कुछ न कुछ ऐसी साधना अवश्य थी जिसके कारण योग-प्रधान भक्तिमार्ग, निर्गुणपंथी भक्तिमार्ग और सगुणोपासक भक्तिमार्ग तीनों ही के पुरस्कर्ता भक्तों ने उन्हें अपना गुरु माना है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा. रामकुमार वर्मा - पृ. 221
2. श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जगतरन कियो ।।
   अनन्तानन्द, कबीर, सुखा, सुरसुरा, पद्मावति नरहरि ।
   पीपा, भवानन्द, रैदास, धना, सेन, सुरसुरा की नरहरि ।।
   औरौ शिष्य प्रशिष्य एक ते एक उजागर ।
   भक्तमाल - पृ. 237

वल्लभाचार्य

महाप्रभु वल्लभाचार्य का जन्म 1478 ई. में हुआ था और ये 1530 ई. तक जीवित रहे । वे नाना शास्त्रों के पंडित थे । उन्होंने श्रीकृष्ण भक्ति का प्रचार किया । वल्लभाचार्य ने लीला पक्ष पर अधिक ज़ोर दिया, इसलिए उनके संप्रदाय के भक्तों में भगवान् के धर्म-रक्षक, मर्यादापुरुषोत्तम और दुष्टदमन रूप गौण हो गए । उसके स्थान पर भगवान् का लोकरंजक रूप प्रधान हो गया ।

वल्लभाचार्य का संप्रदाय विष्णुस्वामी प्रवर्तित रुद्र संप्रदाय का रूपांतर है । वल्लभाचार्य के द्वारा प्रतिपादित मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है । भगवान् के अनुग्रह से ही प्रेम-प्रधान भक्ति की ओर जीव की प्रवृत्ति होती है । भगवान् के इस अनुग्रह को पुष्टि या पोषण कहते हैं । इसी से इस मार्ग को पुष्टिमार्ग कहते हैं । जीव तीन प्रकार के होते हैं - प्रवाह जीव, मर्यादा जीव और पुष्टि जीव । प्रवाह जीव साधारण सांसारिक जीव है । मर्यादा जीव सामाजिक विधि-निषेध के अनुसार चलनेवाले मध्यम कोटि के जीव है । पुष्टिजीव वे हैं जो भगवान पर एकान्तभाव से विश्वास करते हैं, उनके अनुग्रह का भरोसा करते हैं और इसी अनुग्रह से पोषण पाते हुए अन्त में नित्य लीला में लीन होते हैं । तात्पर्य यह है कि पुष्टिमार्ग भगवान् के अनुग्रह पर पूर्ण रूप से निर्भर रहने का मार्ग है, इसमें शास्त्र-विहित विधि-निषेध का बन्धन नहीं है ।

वल्लभाचार्य के प्रमुख ग्रंथ हैं वेदान्त पर रचित अणुभाष्य एवं श्रीमद् भागवत की सुबोधिनी टीका । अणुभाष्य शुद्धाद्वैतवाद का प्रधान मूल है और भागवत की सुबोधिनी टीका भक्ति सिद्धांतों का आकर ग्रंथ है ।

वल्लभाचार्य का प्रभाव भारत के एक विस्तृत भूमि भाग पर पडा और उससे ब्रजभाषा साहित्य पुष्ट हुआ । उनके बाद उनके पुत्र गोसाई बिट्ठलनाथ आचार्य पद के अधिकारी हुए । इन दोनों पिता-पुत्र के चार-चार शिष्य हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल के उन्नायक थे । गोसाई बिट्ठलनाथ ने इन आठ को लेकर अष्टछाप की स्थापना की थी । इन आठों के शिष्यों के नाम इस प्रकार हैं - सूरदास, कुम्भनदास, परमानन्द दास, कृष्णदास, छीतस्वामी, गाविन्द स्वामी, चतुर्भुज दास और नन्ददास । इनमें कवित्व की दृष्टि से सूरदास और नन्ददास उच्चकोटि के हैं ।[1]

श्रीकृष्ण चैतन्य

मध्यकालीन भक्ति आचार्यों में बंगाल के श्रीकृष्ण चैतन्य का भी ऊँचा स्थान है । चैतन्य देव मध्वाचार्य के ब्रह्म संप्रदाय में पहले दीक्षित हुए थे । बाद में प्रवर्तित उनका गौडीय वैष्णव मतवाद रुद्र-संप्रदायान्तर्गत वल्लभाचार्य के मत से अधिक साम्य रखता है । चैतन्य देव की शिष्यपरंपरा में अनेक वैष्णव कवि बंगला और हिन्दी में मधुर पदावली की रचना कर गए हैं । चैतन्य के अनुयायी भक्तों ने वृन्दावन को अपना साधना क्षेत्र बनाया था । इन में रूप गोस्वामी, सनातन गोस्वामी और जीव गोस्वामी बडे भारी शास्त्रज्ञ विद्वान थे । उन्होंने भागवत द्वारा प्रचरित भक्ति को क्रमबद्ध दर्शन और तर्क संगत शास्त्र का रूप दिया । गौडीय वैष्णव गोपी-भाव से भगवान् का भजन करते हैं । इन लोगों का व्रज की भक्ति-धारा पर प्रभाव पडा है और शास्त्रीय चिन्तन पद्धति पर भी इनकी विचारधारा का प्रभाव पडा है ।

---

1. हिन्दी साहित्य की भूमिका - पं. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी - पृ. 56

हिन्दी साहित्य में चैतन्य के षट् गोस्वामियों में एक गोपाल भट्ट का महत्वपूर्ण स्थान है । चैतन्य के षट् गोस्वामिथों में प्रमुख जीव गोस्वामी के साथ हिन्दी की अमर भक्त कवयित्री मीरा बाई का संबंध बताया जाता है ।[1] मीराबाई ने पहले जीव गोस्वामी से दीक्षा ग्रहण की थी ।[2]

इनके अलावा निम्बार्क द्वारा प्रवर्तित सनकदि संप्रदाय का भी उल्लेख हिन्दी भक्ति साहित्य के संदर्भ में आता है । उसका एक शाखा-संप्रदाय राधावल्लभ है जिसे हिन्दी के प्रसिद्ध कवि गोस्वामी हितहरिवंश ने प्रवर्तित किया था ।[3] राधावल्लभ संप्रदाय में राधिका के मार्फत ही भक्त अपने को भगवान् के पास निवेदित करता है ।

हिन्दी भक्ति काव्य पर आचार्यों का प्रभाव

इस प्रकार प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से, हिन्दी भक्ति साहित्य पर रामानुज, मध्व, निम्बार्क और विष्णुस्वामी का प्रभाव पडा है जिन्होंने शांकर अद्वैत को आधार मानकर अपने मतों की स्थापना की थी ।[4] गुरू रामानन्द वल्लभाचार्य और श्री चैतन्य का तो प्रत्यक्ष प्रभाव हिन्दी भक्तिसाहित्य पर है जिनके शिष्य हिन्दी के अमर भक्तकवि बन गए थे । इन सब के सिद्धांत तो

---

1. चैतन्य चरितावली भाग 5 - प्रभुदत्त ब्रह्मचारी - पृ. 253
2. हिन्दी साहित्य की भूमिका - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 56
3. वही - पृ. 57
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास - लक्ष्मी सागर वार्ष्णेय - पृ. 117

भारत के प्राचीन परंपरा से ही संबद्ध है । इसलिए भक्तिकाल के हिन्दी कवियों पर प्राचीन भारतीय भक्ति परंपरा का स्पष्ट प्रभात परिलक्षित होता है ।

सामाजिक परिस्थितियों का प्रभाव

मध्यकाल तक पहुँचने पर भारत में मुसलमान बादशाहों का आधिपत्य स्थापित हो चुका था । हिन्दुओं के देव-मन्दिर मुसलमान मूर्तिभंजकों के हाथों गिराये गए, उनकी देव-मूर्तियाँ तोडी गईं और उनके तीर्थ-स्थान नष्ट-भ्रष्ट किए गए । वे क्षुब्ध, त्रस्त और आतंकित हो गए । मुसलमानों में भी शासक वर्ग को छोडकर साधारण जनता न तो युद्ध प्रिय थी और न असहिष्णु । उन्हें यह भी मालूम हुआ कि अन्य राज्यों में उन्हें जैसी धार्मिक सफलता मिली थी, वैसी सफलता भारत में मिलना असंभव है । इसलिए उनमें धीरे-धीरे समन्वय की भावना–अपनी संस्कृति को हिन्दू संस्कृति के संपर्क में लाने की लालसा–उत्पन्न होती आ रही थी ।

इन्हीं परिस्थितियों में पन्द्रहवीं शताब्दी के आरंभ में हिन्दी निर्गुण भक्ति साहित्य का प्रादुर्भाव हुआ । इस्लाम तथा हिन्दू दोनों धर्मों के सारभूत सिद्धांतों के सामंजस्य से इसका निर्माण हुआ । भारतीय विचारधारा का इस पर अपेक्षाकृत अधिक प्रभाव रहा है । इस समय निर्गुण मत पर आधारित दो परंपराओं का विकास हुआ । एक में ज्ञान तत्व की प्रधानता थी । उसे ज्ञानाश्रयी शाखा कहते हैं । दूसरे में प्रेमतत्व की प्रधानता थी । उसे प्रमाश्रयी शाखा कहते हैं ।

निर्गुण-काव्य परंपरा

हिन्दी निर्गुण-काव्यधारा पर बौद्ध धर्म के अन्तिम सिद्धों तथा नाथ-पंथियों का स्पष्ट प्रभाव था । इस काव्यधारा के प्रेरणातत्वों के रूप में तीन प्रधान विचार धाराओं का सहयोग मिलता है । वे हैं : नाथपंथ व सहजयान का मिश्रित रूप, सूफी मत और वेदान्त । नाथ पंथियों और बौद्ध सिद्धों की रचनाओं में बाह्याडंबर और कर्मकाण्ड का प्रबल विरोध मिलता है । यह निर्गुण काव्य में भी परिलक्षित हुआ है । निर्गुण-काव्य में जो रागात्मक प्रेमतत्व है वह सूफी मत के प्रभाव से आया है । परन्तु इसमें सूफियों-की-जैसी लौकिक स्थूलता का अभाव है । संत मत का प्रेम तत्व अलौकिक आलम्बन के प्रति परिष्कृत भावनाओं में ही व्यक्त हुआ । निर्गुण साहित्य पर वेदान्त का प्रभाव सर्वाधिक है । कबीर आदि सन्तों ने वेदान्त के आधार पर ईश्वर की कल्पना की । इसमें इस्लाम के "खुदा" की कल्पना का भी प्रभाव देखा जा सकता है ।

ज्ञानाश्रयी शाखा

निर्गुण ईश्वर में आस्था रखनेवाले कवियों में एक विभाग ज्ञान के द्वारा निराकार ईश्वर के बारे में अवगत होकर उनकी भक्ति करते थे । वे ज्ञानाश्रयी शाखा के कवि कहलाते हैं । इनमें सबसे प्रमुख कबीरदास थे । उनके अलावा दादू, सुन्दरदास, रैदास, मलूकदास, नानक आदि भी इनमें प्रमुख हैं । ये संतकवि कहलाते थे । वे सभी सुधारवादी थे । इन्होंने बाह्याडंबरों का विरोध किया और एकेश्वरवाद का प्रचार किया । इनके मत पर वेदान्तियों, सिद्धों और नाथों का प्रभाव हैं ।

संत कबीर

ज्ञानाश्रयी शाखा के सबसे श्रेष्ठ कवि कबीर हैं । निर्गुण काव्यधारा को हिन्दी क्षेत्र में व्यावहारिक रूप देने का श्रेय भी कबीरदास को है ।[1] वे निर्गुण संप्रदाय के कवियों में सर्वप्रमुख हैं । उनका पालन-पोषण एक मुसलमान जुलाहे परिवार में हुआ था । उस परिवार पर हिन्दू संस्कार शेष था । वे नाथ संप्रदाय से प्रभावित भी थे ।[2] इस प्रकार कबीरदास को नाथपंथी पृष्ठभूमि सहज ही प्राप्त थी । स्वामी रामानन्द के शिष्यत्व में उन्हें भक्ति सिद्धांतों का ज्ञान भी प्राप्त हुआ । कबीरदास निरक्षर थे । उनके ग्रंथों में उनकी वाणी का संकलन हुआ है । यह कार्य उनके शिष्यों द्वारा संपन्न हुआ । कबीर के ग्रंथों में बीजक प्रमुख है । इसमें वेदान्त विवेचन, खण्डन-मण्डन, संसार की नश्वरता, हृदय की शुद्धि, बाह्यानुष्ठानों की असारता आदि अनेक प्रसंग हैं । कबीर की भाषा बहुत परिष्कृत और परिमार्जित न होने पर भी उनकी उक्तियों में विलक्षण प्रभाव और चमत्कार है । उनकी प्रतिभा प्रखर थी । वे प्रमुख रूप से भक्त थे । उनके भगवत्प्रेम के आदर्श सती और शूर हैं । जो प्रेम या भक्ति पद पद पर भक्त को भाव विह्वल कर देती है और जो उन्मत्त भावावेश के द्वारा भक्त को हत चेतन बना देती है, वह कबीर को अभीष्ट नहीं उनकी भक्ति में अनाविल आत्मसमर्पण ही प्रमुख है । उनकी उक्तियों में सहज सत्य की सहज ढंग में अभिव्यक्ति है ।

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 77
2. भारतीय साहित्य कोश - सं. डा. नगेन्द्र - पृ, 489
3. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 83

संत मत के अन्य कवियों में रैदास, धर्मदास, गुरू नानक, दादू दयाल और सुन्दरदास प्रमुख है । रैदास की कृतियाँ उनके राग तत्व के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं । निर्गुण संतों में नानक और दादू दयाल ने नये पंथ भी चलाये । सुन्दरदास की विशेषता यह थी कि वे समुचित रूप से शिक्षा प्राप्त थे, जबकि बाकी सब अशिक्षित थे । सुन्दरदास की रचना "सुन्दर विलास" में दार्शनिक सिद्धांतों का शास्त्र-सम्मत रूप में प्रतिपादन हुआ है ।

संत काव्य की विशेषताएँ

संत कवियों के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की कुछ उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं । सभी संत अक्खड थे । उन्होंने निर्भय होकर धार्मिक एवं सामाजिक रूढ़ियों पर निर्मम प्रहार किए । वे मानवता के प्रेमी थे । प्राय: सभी संत कवि अच्छुत जातियों से आए हुए थे । कबीरदास जुलाहा थे, रैदास चमार थे, दादू दयाल धुनिया थे और अन्य कवियों की स्थिति भी कुछ भिन्न नहीं है । उनके लिए समाज के धार्मिक आचार और अनुष्ठान अप्राप्य थे । वे मंदिर में नहीं जा सकते थे, वेदाध्ययन नहीं कर सकते थे । इसलिए उन्होंने सच्ची साधना का आश्रय लिया और अपने अन्तर में ही ईश्वर का साक्षात्कार किया । कबीरदास अपने इन सारे अनुभवों के आधार पर कहते हैं :

कस्तूरी कुंडली बसै मृग ढूँढै बन माहीं ।
ऐसे घटि घटि राम है दुनिया देखे नाहीं ।।[1]

---

1. कबीर ग्रंथावली - साखी 7.।

संत कवियों की रचनाओं की भी अपनी कुछ विशेषताएँ हैं । उनकी रचनाएँ उनकी आध्यात्मिक अनुभूतियों एवं जीवनानुभवों से प्रमाणित हैं । उनमें सांप्रदायिक संकीर्णता का अभाव है । वे गुरू की महत्ता को स्वीकार करते हैं ।[1] रहस्यात्मक ढंग से वे योग साधनाओं एवं योगानुभूतियों का संकेत करते हैं । ईश्वर के प्रति उनका प्रेम अडिग और निर्मल है । वे ईश्वर की प्रेम में मत्त होकर सर्वत्र ईश्वर के दर्शन करते हैं और स्वयं को भी ईश्वरांश महसूस करते हैं ।[2] उनमें प्रेम की व्यापकता है । प्रिय-प्राप्ति के लिए प्रेम के समान दूसरा कोई साधन उन्हें महत्वपूर्ण नहीं है । प्रिय को भीतर मानकर भी उन्होंने प्रेम की महत्ता को रेखांकित किया । संत कवियों ने पुस्तक-ज्ञान, बाह्याडंबर आदि के स्थान पर शुद्ध प्रेमा भक्ति को ईश्वर प्राप्ति का उपाय स्थापित किया । कबीरदास की वाणी में यह प्रेमतत्व भरा पडा है । उनके प्रेम के आदर्श सती और शूर है । पुस्तक ज्ञान का वहाँ कोई महत्व नहीं है । पुस्तक ज्ञान की निस्सारता व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा है :

पोथी पढि पढि जग मुआ पंडित भए न कोई ।
एकै आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होई ।।[3]

कबीर के समान रैदास, गुरू नानक जैसे अन्य संत कवियों की रचनाओं में भी प्रेमा भक्ति और समर्पण को सर्वाधिक प्राधान्य मिला है ।

---

1. सतगुरू की महिमा अनंत अनंत किया उपकार ।
   लोचन अनंत उघाडिया अनन्त दिखावन हार ।। कबीर ग्रंथावली - साखी 1.13
2. लाली मेरे लाल की जित देखौं तित लाल ।
   लाली देखन मैं गई मैं भी हा गई लाल ।। - कबीर दोहावली - दो. 39
3. कबीर ग्रंथावली - साखी - 33.3

"प्रभुजी तुम चंदन हम पानी" जैसे पदों के द्वारा रैदास ने और "सुमिरन कर ले मोरे मना...." जैसे पदों के द्वारा नानक ने अपने प्रेमपूर्ण ईश्वर समर्पण का परिचय दिया है ।

संत काव्य का शिल्प भी विशेष प्रकार का है । संत काव्य में गीतों की प्रधानता है, प्रबंध काव्य नहीं के बराबर हैं । कविता करना संत कवियों का उद्देश्य भी नहीं था । वे सुधार एवं साधना के लिए ही कविता को माध्यम बनाते थे । उनकी भाषा सधुक्कडी या खिचडी भाषा थी जिसमें व्रज, अवधी, खडीबोली, राजस्थानी आदि भाषाओं के शब्द मिल-जुलकर प्रयुक्त होते हैं ।[1]

संत कवियों का महत्व

हिन्दी भक्ति साहित्य के लिए ज्ञानाश्रयी शाखा के निर्गुण-भक्त कवि अथवा संतकवियों का योगदान निस्संदेह महत्वपूर्ण है । समाज सुधार के अलावा भक्ति की धारा को जन जन के बीच में लाने का श्रेय निस्संदेह संत कवियों को मिलता हैं । कबीर जैसे कवियों को जितनी लोकप्रियता मिली है वह विरले ही अन्य कवियों को मिली है । हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में संत साहित्य अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान का अधिकारी है, यह निर्विवाद बात है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ.49

प्रेमाख्यान काव्य परंपरा

प्रेमाख्यान काव्य परंपरा निर्गुण-काव्य धारा की दूसरी शाखा है । प्राचीन काल में भी लोक प्रचलित कहानियों को धार्मिक तथा आध्यात्मिक उद्देश्य से प्रयोग किया गया है । महाभारत तथा पुराणों में, जातक कथाओं तथा बौद्धों के अवदान साहित्य में और जैन कवियों द्वारा लिखित चरित काव्यों में इस पद्धति का पूरा उपयोग किया गया है । हिन्दी साहित्य के मध्यकाल में सूफी कवियों ने इस पद्धति को अपनाया ।

सूफी संप्रदाय का प्रवेश भारत में बारहवीं शताब्दी से माना जाता है ।[1] इनका सादा जीवन, उच्चविचार और प्रेम का तत्ववाद भारत के धर्म-जिज्ञासुओं को धीरे धीरे आकृष्ट करने लगा । भारतीय सूफी संतों ने यहाँ की प्रचलित लोक कथाओं का आश्रय लेकर अपने आध्यात्मिक विचारों का प्रचार आरंभ किया । इस श्रेणी का सबसे प्रथम काव्य अलाउद्दीन खिलजी के राज्यकाल के मुल्ला दाऊद नामक किसी सूफी संत का "चन्द्रावत" या "चन्द्रावती" नामक काव्य बताया गया है ।[2]

प्रेम कथानकों पर आधारित काव्य तीन श्रेणियों को प्राप्त हुए हैं । एक आध्यात्मिक सिद्धांतों के प्रचार के लिए लिखे गए काव्य हैं । दूसरे विशुद्ध लौकिक प्रेम-काव्य हैं । तीसरे अर्द्ध ऐतिहासिक प्रेम-गाथायें हैं ।

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 156
2. वही - पृ. 157

सूफी कवियों की लिखी गई प्रेम कहानियाँ प्रथम श्रेणी की हैं । सूफियों के अतिरिक्त अन्य भक्त कवियों ने भी इस शैली को थोडा बहुत अपनाया है । इन कहानियों का कथानक यद्यपि लौकिक कथा के रूप में हैं फिर भी प्रेम की व्यंजना उच्च और विश्वव्यापी रूप में होती है । इसलिए अलौकिकता की ध्वनि इनमें अपने आप आ जाती हैं । सूफी काव्यों में हिन्दुओं के कथानकों में सूफी मत के सिद्धांत बाह्यतः आरोपित नहीं हैं, बल्कि उनका प्रतिपादन बडी स्वाभाविकता के साथ कहानी के भीतर समेटा गया है ।

पन्द्रहवीं शताब्दी के अंतिम भाग में हिन्दी में अनेक प्रेमाख्यानों की रचना आरंभ हुई । इनमें कुतबुन का "मृगावती", मंझन का "मधुमालती", मलिक मुहम्मद जायसी का "पद्मावत" और उसमान का "चित्रावली" प्रमुख हैं ।

जायसी

मलिक मुहम्मद जायसी सूफी कवियों में सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं । उनकी प्रसिद्ध रचना पद्मावत प्रेमाख्यान काव्यों की मुकुट-मणि है । इसमें सिंहल देश की राजकुमारी पद्मावती औी चित्तौड के राजा रतनसेन का प्रेम वर्णित है । पद्मावती के शुक के मुख से उसके रूप की प्रशंसा सुनकर राजा रतनसेन उसको प्राप्त करने का प्रयास करते हैं । इस कहानी के अन्त में अलाउद्दीन के चित्तौड आक्रमण की कहानी आयी है । इस प्रकार कहानी के दो भाग हैं । प्रथम में राजा रतनसेन के ऐकान्तिक प्रेम का बडा जीवन्त चित्रण और उनकी पहली राणी नागमती के वियोग का बहुत हृदय-

विदारक वर्णन दिया हुआ है । दूसरे भाग की कथा में कुछ ऐतिहासिकता का मिश्रण हो गया है ।

जायसी को रहस्यवादी कवि कहा जाता है ।[1] सूफियों का यह रहस्यवाद अद्वैत भावना पर आश्रित है । सूफी कवियों ने अपने प्रेम कथानकों की नायिका को भगवान का प्रतीक माना है । जायसी भी सूफियों की इस भक्ति-भावना के अनुसार अपने काव्य में परमात्मा को प्रिया के रूप में देखते हैं और जगत् के समस्त रूपों को उसकी छाया से उद्भासित बताते हैं । उनके काम में प्रकृति उसी परमप्रिय के समागम के लिए उत्कण्ठित और व्याकुल पायी जाती हैं ।[2]

अन्य सूफी कवियों में "चित्रावली" के लेखक उसमान प्रसिद्ध है । चित्रावली में नायक के प्रयत्न और अन्य नायिका से विवाह आदि बातें सूफियों के प्रेम-कथानकों की शैली पर ही चली है । मंझन की "मधुमालती" में मधुमालती के रूप के बहाने समस्त प्रकृति में व्याप्त व्यापक रूप की ओर संकेत किया गया है ।

प्रेमाख्यान काव्यों का महत्व

सूफी कवियों ने हिन्दी भक्ति साहित्य को महत्वपूर्ण योगदान दिये हैं । सूफी संत ईश्वर को परम-सौंदर्य मानते हैं । ईश्वर ही प्रेम का एकमात्र पात्र हैं । प्रेमाख्यान काव्यों का मूल स्वर यही है । उनमें प्रेम के

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास -पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 161
2. वही - पृ. 162

माध्यम से ही ईश्वरीय सत्ता की अनुभूति संभव मानी गयी है । इनमें प्रेम का मार्ग अत्यन्त कठिन कहा गया है । यह बात भक्ति-साधना में उपस्थित विघ्नों का बोध कराती है । प्रेम-मार्ग में चलनेवाले को संसार से विरक्त होना आवश्यक है । इसी को प्रेमाख्यान काव्यों में योगी बनकर घर से निकलना कहा गया है । ईश्वरीय प्रेम में जो विरह पीडा होती है उसका भी सम्यक् वर्णन "पद्मावत" जैसे प्रेमाख्यान काव्यों में हुआ है । प्रेमाख्यान काव्यों के रचयिताओं में जायसी जैसे असली फकीर थे, जो प्रेम की पीर मिटाने के लिए माशूक ईश्वर की तलाश किया करते थे । इनकी रचनाएँ भक्ति-साधना और ईश्वर की अनुभूति के गुप्त वर्णनों से भरी पडी है । इन्होंने अपने प्रेम चित्रण से हिन्दी भक्ति साहित्य को पुष्ट किया है ।

सगुण काव्य परंपरा

भारत में सगुण भक्तिपरक काव्यों की रचना प्राचीनकाल से होती आ रही थी । सुकुमार कवि का "श्रीकृष्णविलासम्" काव्य, लीलाशुक का "श्रीकृष्णकर्णामृतम्" जयदेव का "गीता-गोविन्दम्" आदि संस्कृत काव्य सगुण-भक्तिकाव्य की परंपरा के कुछ ग्रंथ है । अपभ्रंश में बौद्ध और जैन कवियों ने बौद्ध और जैन भक्ति के तत्वों से युक्त रचनाएँ भी प्रस्तुत की हैं ।

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में सगुण भक्ति के श्रेष्ठ काव्यों की रचना हुई । सगुण भक्ति में भगवान् के किसी अवतार की भक्ति प्रमुख है । हिन्दी में विष्णु के दो प्रमुख अवतार–राम और कृष्ण की भक्ति से युक्त रचनाएँ प्रचुर मात्रा में रचित हुई । अतः हिन्दी सगुण साहित्य में वैष्णव सिद्धान्त

आधार रूप में विद्यमान है । वैष्णव-भक्ति पहले दक्षिण में प्रतिष्ठित होकर बाद में उत्तर में आयी थी । सातवीं शताब्दी ईसवीं में ही दक्षिण में वैष्णव भक्ति की प्रतिष्ठा हो चुकी थी । दक्षिण के वैष्णव भक्तों में बारह आलवार सन्त हुए । इन्हीं लोगों की परंपरा में सुविख्यात आचार्य रामानुज का प्रादुर्भाव हुआ था । भक्ति के लिए जिस दृढ़ सगुण तत्व की आवश्यकता थी, उसे खडा करके इन्होंने वैष्णव सिद्धांतों को प्रतिष्ठित किया । हिन्दी प्रदेश में सगुण भक्ति का प्रचार करनेवाले प्रथम आचार्य स्वामी रामानन्द इनकी परंपरा में आये । इन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर बल दिया । इसी के समान दूसरी ओर स्वामी वल्लभाचार्य ने कृष्ण को लेकर जन मन को रसमग्न किया । इन दोनों ही आचार्यों ने हिन्दी सगुण काव्य पर सर्वाधिक प्रभाव डाला । वल्लभाचार्य के शिष्यों में सूरदास जैसे श्रेष्ठ कृष्ण-भक्त कवि हुए, जिन्होंने कृष्ण भक्ति साहित्य को अपनी रचनाओं से पुष्ट किया । रामानन्द की परंपरा के नरहरि के शिष्य गोस्वामी तुलसीदास ने रामभक्ति काव्यों से हिन्दी सगुण भक्ति साहित्य को धन्य किया । हिन्दी सगुण भक्ति साहित्य की ये ही दो प्रमुख शाखायें हैं ।

कृष्ण काव्य परंपरा

हिन्दी कृष्ण भक्ति साहित्य के प्रमुख कवियों की आधार भूमि वल्लाभाचार्य के द्वारा प्रवर्तित पुष्टिमार्ग है । इसका सैद्धान्तिक आधार शुद्धाद्वैत सिद्धांत है । इसके अनुसार श्रीकृष्ण ही ब्रह्म है । ब्रह्म ही जीव तथा जगत् के रूप में आविर्भूत होता है । साधना जगत् में आचार्य वल्लभ ने मर्यादा

---

1. हिन्दी साहित्य : एक परिचय - डा. त्रिभुवन सिंह - पृ. 34

मार्ग और पुष्टिमार्ग प्रस्तुत किए । मर्यादा मार्ग वैदिक मार्ग है । पुष्टि मार्ग कृष्णार्पण का मार्ग है । इसमें भगवान् का अनुग्रह ही परम प्रधान है । भगवान् के अनुग्रह से प्रेमा भक्ति की प्राप्ति होती है । भक्ति के विकास की तीन अवस्थायें हैं: प्रेम, आसक्ति और व्यसन । भक्ति का लक्ष्य राधाकृष्ण की शाश्वतलीला प्रवेश है ।

अष्टछाप और सूरदास

आचार्य वल्लभ के प्रभाव में आकर भक्तिमय जीवन बितानेवाले आठ कवि प्रसिद्ध हुए । ये अष्टच्छाप के कवि कहलाते हैं । इनमें हिन्दी के सर्वप्रसिद्ध कृष्णभक्त कवि सूरदास आते हैं । व्रजभाषा के ये महान् कवि वल्लभाचार्य के प्रभाव में आने के पहले ही कृष्ण भक्ति परक गीतों की रचना करते थे । वल्लभाचार्य से मिलने पर इन्होंने श्रीमद् भागवत की सुबोधिनी टीका और पुष्टि मार्ग के सिद्धांतों का अध्ययन किया । सूरदास की सर्वश्रेष्ठ रचना "सूरसागर" है । इसमें भागवत प्रतिपादित कृष्ण कथा गेय पदों में प्रस्तुत की गयी है । "सूरसागर" में कृष्ण के व्यक्तित्व का लीला प्रधान अंश ही आया है । सूरदास बालकृष्ण के उपासक थे । अतः बालकृष्ण की लीलायें, अर्थात् वृन्दावन लीलायें ही उनके ग्रंथ में मुख्य रूप से आयी हैं । सूरसागर में वात्सल्य और श्रृंगार का मनोहर वर्णन आया है । आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "वात्सल्य और श्रृंगार के क्षेत्र में जहाँ तक इनकी दृष्टि पहुँची, वहाँ तक किसी कवि की नहीं ।"[1]

सूरसागर का सबसे मर्मस्पर्शी और वाग्वैदग्ध्य पूर्ण अंश "भ्रमर गीत" है । इसमें गोपियों की वचन वक्रता अत्यन्त मनोहारिणी है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 164

इसमें ज्ञान और भक्ति, निर्गुण और सगुण आदि के शास्त्रीय और भावात्मक विवाद के बीच गोपियों की विरह वेदना की मर्मस्पर्शी व्यंजना है, जो अद्वितीय है । "भ्रमरगीत" में राधा के संयोग और वियोग के चित्रण में सूर की आत्मा स्वयं द्रवीभूत होकर काव्य बन गयी है ।

सूर की भक्ति

सूरदास सगुणोपासक थे । वे गोस्वामी वल्लभाचार्य के शिष्य थे । इसलिए सूर के पदों में जिन जिन सिद्धांतों का उल्लेख हुआ है, वे वल्लभाचार्य के सिद्धांतों पर अवलंबित है । वल्लभाचार्य पुष्टिमार्गी थे । पुष्टिमार्गी भक्ति को सूर ने भी अपनाया । सूर में पुष्टिमार्गी भक्ति के प्रायः सभी तत्व मिल जाते हैं, यद्यपि सूरसागर में स्पष्ट रूप से पुष्टिमार्ग का उल्लेख नहीं है ।[1] पुष्टिमार्ग का तात्पर्य है - भगवान् कृष्ण की आराधना कर उनकी कृपा एवं अनुग्रह की प्राप्ति करना । गोस्वामी वल्लभाचार्य ने ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों ही माना हैं परन्तु सगुण ब्रह्म की आराधना को सर्वश्रेष्ठ ठहराया है । सूर भी इस बात को स्वीकार करते हैं । इसीलिए सूर की गोपियाँ सगुण को पसंद करती है :

ऊधौ निरगुनहि कहत, तुमहीं सो लेहू ।
सगुन मूरति नन्दनन्दन हमहिं आनि देहू ।
अगम पंथ परम कठिन, गौन तहाँ नाहिं ।
सनकादिक भूलि फिरे, अबला कहँ जाहिं ।।[2]

भ्रमरगीत के अन्य अनेक पदों में भी इसकी पुष्टि हुई है ।

---

1. सूर और उनका साहित्य - डा. हरवंशलाल शर्मा - पृ. 275
2. सूरसागर - पद 4517

सूरदास की भक्ति के अनेक साधन हैं । नाम कीर्तन, गुरुभक्ति, लीलागान, नित्य-नैमित्तिक कार्य, भगवान् के रूप का ध्यान आदि इनमें प्रमुख हैं । सूर की भक्ति में शान्त भक्ति, दास्य भक्ति, सख्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति तथा मधुर भक्ति को स्थान मिला है । गोस्वामी वल्लभाचार्य ने वात्सल्यासक्ति और दाँपत्यासक्ति को बडा महत्वपूर्ण बताया है ।[1] सूरदास ने वात्सल्य भक्ति के अंकन में कमाल किया है । वात्सल्य रस के समस्त तत्व उनके पदों में प्रकट हुए हैं । माखनचोरी, गोचारण लीला आदि से संबंधित पदों में वात्सल्य रस की जो समग्र निष्पत्ति हुई है, वह वात्सल्य भक्ति की पराकाष्ठा प्रस्तुत करती है । इसी प्रकार कान्तासक्ति के अंकन में भी सूरदास ने निस्तुल सफलता प्राप्त की है । कृष्ण और गोपियों के प्रेम का चित्रण सूरसागर के अनेक पदों में सुन्दर एवं स्वाभाविक ढंग में हुआ है । वात्सल्य एवं मधुर भक्ति के संयोग पक्ष का ही नहीं वियोग पक्ष का भी मार्मिक चित्रण सूरदास ने किया है । वात्सल्य एवं श्रृंगार के क्षेत्रों में सूरदास का अधिकार इतना संपूर्ण था कि तुलसी के अनन्य समर्थक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तक ने उसकी खुब प्रशंसा की है । उनका मत है कि सूर इन क्षेत्रों का कोना-कोना झाँक आए । उक्त दोनों प्रवर्तक रति भाव के भीतर की जितनी मानसिक वृत्तियों और दशाओं का अनुभव और प्रत्यक्षीकरण सूर कर सके उतनी का और कोई नहीं ।[2] वात्सल्य एवं श्रृंगार को कृष्ण की ओर केन्द्रित करके सूर ने कृष्णभक्ति की अमृतधारा प्रवाहित की है । कृष्ण कथा में सूर ने अपने भाव-रस का सम्मिश्रण कर कल्पना के दिव्य साँचे में ढालकर उसे इतने सुन्दर रूप में जनता के सम्मुख रखा कि वह उनके आराध्य की दिव्य सौंदर्यमयी प्रतिकृति बन गई है ।[3]

---

1. सूर और उनका साहित्य - डा. हरवंशलाल शर्मा - पृ. 319
2. सूरदास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 167
3. सूर और उनका साहित्य - डा. हरवंशलाल शर्मा - पृ. 317

अष्टच्छाप के अन्य कवि

अष्टच्छाप के कवियों में सूरदास के अलावा जो सात कवि थे वे हैं कृष्णदास, परमानन्ददास, कुम्भनदास, नन्द दास, चतुर्भुजदास, छीतस्वामी और गोविन्ददास । इनमें पहले तीन गोस्वामी वल्लभाचार्य के शिष्य थे और अन्तिम चार वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे । ये सब सुकवि थे परन्तु नन्ददास बाकी छहों से श्रेष्ठ सिद्ध होते हैं ।

नन्ददास गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्यों में सबसे प्रमुख थे । वे बहुत प्रतिभाशाली कवि थे । इनकी रचनाओं में "रासपंचाध्यायी" एवं "सिद्धांत पंचाध्यायी" भागवत के रासपंचाध्यायी के सरस भाषान्तर हैं । सिद्धांत पंचाध्यायी में उन्होंने भक्ति सिद्धांत के कुछ नियमों का वर्णन किया है । "रूपमंजरी" नामक रचना भक्ति-प्रधान प्रेम-कथानक हैं । "सुदामाचरित" नामक रचना में श्रीकृष्ण के भक्त सुदामा की कथा हृद्य शैली में प्रस्तुत है ।

सूरदास के समान नन्ददास भी बहुत उच्चकोटि के भावुक भक्त थे । उन्होंने भक्ति सिद्धांतों का अध्ययन और मनन किया था । परन्तु सूरदास की भाँति सहज कवित्व से ही वे सन्तुष्ट नहीं होते थे । उनकी रचनाओं में विद्याध्ययनजन्य प्रौढ़ता विद्यमान है । उनके विचार-पद्धति शास्त्रीय और पुष्टिमार्ग सम्मत है । सूरदास की गोपियों से भिन्न नन्ददास की गोपियाँ उद्धव के तर्कों को सुनकर परास्त नहीं होती हैं, बल्कि आगे बढकर उत्तर देती हैं और तर्क को तर्क से काटने का प्रयत्न करती हैं । निर्गुण भाव का प्रत्याख्यान सूर ने केवल प्रेमातिरेक के आधार पर किया है, जबकि नन्ददास ने युक्ति और तर्क

के आधार पर भी सगुण भाव का समर्थन किया है ।[1] ऐसी शास्त्रीय और सैद्धान्तिक विवेचनाओं के होने पर भी नन्ददास की रचनाओं में अपना मोहक सौंदर्य है, जो एक भक्त की भक्तिपरक रचनाओं की सबसे बडी विलक्षणता है ।

अष्टच्छाप के अन्य कवियों में कृष्णदास अपनी सच्चाई और निष्ठा तथा कुम्भनदास अपनी मस्ती एवं फक्कडता के कारण विशेष उल्लेखनीय हैं ।[2] परमानन्ददास बहुत उच्चकोटि के कवि थे । "परमानन्दसागर" इनकी प्रसिद्ध पुस्तक है । चतुर्भुजदास ने भी "भक्ति-प्रकाश" जैसे कुछ पुस्तकें लिखीं, परन्तु छीतस्वामी और गोविन्दस्वामी के फुटकल पद ही प्राप्त हुए हैं ।[3]

अष्टच्छाप के कवियों की विशेषतायें

अष्टच्छाप के सभी कवियों में कृष्ण के लीलागान और रूप माधुर्य वर्णन करने की प्रवृत्ति है । इन कवियों ने अपने काव्य के विषय के लिए प्राय: भक्ति को ही अपनाया, केवल नन्ददास ने इस सीमा का किंचित् उल्लंघन किया है । इस प्रकार ये सच्चे भक्ति भाव के कवि सिद्ध होते हैं । इनमें सूरदास जैसे महान् कवि हुए जिन्होंने समस्त हिन्दी साहित्य को अपने योगदान से ऋणी बना लिया । इनकी भक्ति-भाव पूर्ण रचनाओं के प्रचार के बाद लौकिक रस की परंपरा फीकी पडकर निर्जीव हो गयी । परवर्ती काल की व्रजभाषा को लीला निकेत भगवान्-श्रीकृष्ण के गुणगान के साथ एकान्त भाव से बाँध देने का श्रेय इन्हीं कवियों को प्राप्त है ।[4]

---

1. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 119
2. वही - पृ. 117
3. वही - पृ. 119-20
4. वही - पृ. 120

अन्य कृष्णभक्त कवि

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में अष्टछाप के बाहर भी अनेक कृष्णभक्त कवि हुए हैं । ऐसे कवियों में भी भक्ति की प्रबल धारा प्राप्त होती हैं । इस प्रकार के अनेक कवियों ने तत्कालीन भक्ति-साधना को प्रेरणा दी हैं । राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक गोस्वामी हितहरिवंश, भक्त कवयित्री मीराबाई, मुसलमान कृष्णभक्त कवि रसखान आदि इनमें प्रसिद्ध हैं ।

मीराबाई

मीराबाई राठौड वंश में उत्पन्न हुई थी । ये आरंभ से ही कृष्ण भक्ति में लीन रहा करती थी । विवाह के उपरान्त थोडे दिनों में उनके पति का परलोकवास हो गया । घरवालों के दुर्व्यवहार से खिन्न होकर वे द्वारका और वृन्दावन के मन्दिरों में घूम घूम कर भजन सुनाया करती थी ।

मीरा के बनाए गए चार ग्रंथ कहे जाते हैं - "नरसी जी का मायरा", "गीत गोविन्द की टीका", "राग गोविन्द", और "राग सरोठ" के पद ।[1] मीरा का काव्य विषय भक्ति था । मीरा ने अपनी भक्तिगत स्वज्ञान और भावना के अनुसार परमात्मा का रूपांकन किया, भक्ति की मन्दाकिनी बहायी । विषय की दृष्टि से मीरा के पद अनेक विभागों में आते हैं । विनय और प्रार्थना संबंधी पद, विरह और प्रेम संबंधी पद, रहस्यवादी पद, पौराणिक आख्यानों का पद आदि इनमें प्रमुख हैं ।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 127

मीरा के इष्टदेव गिरिधर गोपाल थे । उन्हें बचपन से गिरिधारी पर आस्था थी । मीरा ने अपने इष्टदेव के भिन्न भिन्न रूप प्रस्तुत किये हैं जिनमें निर्गुण-ब्रह्म रूप भी आता है । योगी के रूप में भी उन्होंने अपने इष्टदेव को प्रस्तुत किया है । लेकिन श्रीमद्भागवत् के सगुण ब्रह्म कृष्ण का रूप ही उनक पदों में सर्वाधिक आदृत हुआ है । मीरा अपने इष्टदेव के रूप पर अत्यन्त मुग्ध थी । इसलिए मीरा की भक्ति प्रथमत: रूपासक्ति की कोटि में आती है । मीरा द्वारा कृष्ण का जो रूप सौंदर्य अंकित है, उसमें अन्यादृश सजीवता और तन्मयता है । "बसो मेरे नैनन में नन्दलाल"[1] जैसे पदों में जो कृष्ण रूप अंकित है, इसकी तुलना अन्यत्र कहीं भी दिखाई नहीं पडती है ।

मीराबाई की उपासना माधुर्य भाव की थी अर्थात् वे अपने इष्टदेव श्रीकृष्ण की भावना प्रियतम या पति के रूप में करती थीं ।[2] मीरा ने स्पष्ट कहा है : "जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई" ।[3] यहाँ उनकी भक्ति स्पष्ट रूप से कान्तासक्ति की कोटि में पहुँच गई है । मीरा के मत में समस्त विश्व में केवल एक ही पुरुष हैं - श्रीकृष्ण ।[4] इस से मीरा के कृष्ण का विश्वात्मा रूप ही सिद्ध होता है ।

मीरा की भक्ति का संबंध सगुणमार्गी भक्तों से स्पष्ट सिद्ध होने पर भी निर्गुणमार्गी भक्तों से भी उनका संबंध जोडा जाता है ।

---

1. मीरा पदावली - पृ. 58
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 127
3. मध्यकालीन काव्य संग्रह - पृ.97
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 127

उनके विषय में यह प्रसिद्ध है कि उन्होंने चैतन्यसंप्रदायी जीवगोस्वामी से दीक्षा ली थी । दूसरी ओर उनके पदों में रैदास को गुरू के रूप में स्मरण किया गया है ।[1] इन सब बातों का एक ही निष्कर्ष निकल सकता है कि मीराबाई अत्यंत उदार मनोभावापन्न भक्त थीं । उन्हें किसी पंथ विशेष पर आग्रह नहीं था । जहाँ कहीं उन्हें भक्ति मिली है, वहीं उन्होंने उसे सिर माथे चढाया है ।

मीरा बाई के पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता और आत्मसमर्पण का भाव है । उनकी माधुर्य भक्ति से हिन्दी क्षेत्र के बाहर के लोग भी प्रभावित हुए हैं । मीरा की माधुर्य भक्ति अन्य भक्त कवियों की अपेक्षा अधिक सहज है । इसलिए उनके पदों में जिस श्रेणी की अनुभूति प्राप्त होती है वह अन्यत्र दुर्लभ है । भगवद् विरह की पीडा को कम कवियों ने इतना मादक और प्रभावोत्पादक बनाकर प्रकट किया है । यहाँ यह भी याद करने योग्य है कि मीरा की कुछ पदों में निर्गुण भाव की भक्ति भी मिलती है । परन्तु गिरिधर नागर को उद्देश्य करके लिखे भजनों में ही मीराबाई सर्वाधिक सहज और स्वस्थित हैं ।[2]

रसखान

अष्टछाप के बाहर के कृष्ण भक्त कवियों में मुसलमान कवि रसखान भी महत्वपूर्ण हैं । कृष्णभक्ति के साहित्य में जिस मधुर भाव पर बहुत अधिक बल दिया गया है, उसमें विश्वजनीन तत्व है । धर्म, संप्रदाय और विश्वासों के बाहरी बंधन उस विश्वजनीन माधुर्य तत्व के आकर्षण को रोक

---

1. हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 121
2. वही - पृ. 121

नहीं सके हैं । भक्तिकाल के अनेक मुस्लिम सहृदय इस मधुर भाव की भक्ति साधना से आकृष्ट हुए । इनमें सबसे प्रमुख है बादसा वंश के रसखान । "दो सौ बावन वैष्णवन की कर्ता" में उनके आरंभिक यौवनकाल की कुत्सित प्रेम-भावना का उल्लेख है ।[1] चार महात्माओं के सत्संग से इनकी गलत ढंग की प्रेम-वासना भागवद्भक्ति में परिणत हो गई ।

रसखान के दो ग्रंथ प्राप्त हैं - "सुजान रसखान" और "प्रेम वाटिका" । सुजान रसखान में भक्ति और प्रेम संबंधी रचनाएँ संगृहीत हैं । रसखान सगुण ब्रह्म कृष्ण के भक्त थे । उनकी भक्ति मधुर भाव की थी, कान्तासक्ति थी । अतएव उनके काव्य के वर्ण्य विषय हुए कृष्ण और गोपिकाएँ ।

रसखान गोस्वामी विट्ठलनाथ के बडे कृपा पात्र शिष्य थे ।[2] इसलिए विट्ठलनाथ जी की भक्ति भावना का प्रभाव उन पर पडा।परन्तु उन्होंने पुष्टिमार्ग के पथ का अनुगमन नहीं किया,बल्कि उनकी पगडंडी अपनी बनाई हुई थी ।[3] रसखान ने कृष्ण की यौवन लीलाओं का ही वर्णन अधिक किया है,न कि बाल लीलाओं का । उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण के अलौकिक प्रेम को अपनी संपूर्ण रचना में महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है । उनका प्रेम-चित्रण अत्यन्त मार्मिक बन गया है । कृष्ण की बाललीलाओं से संबंधित जो एक दो सवैये उन्होंने लिखे हैं उनमें बाललीला के अत्यन्त स्मरणीय चित्र उपस्थित करने में वे सफल हुए हैं । उदाहरणार्थ - धूर भरे अति सोभित श्यामजू"[4] वाली सवैया

---

1. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता - २१४ (उद्धृत रसखान ग्रंथावली-पृ.21)
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 131
3. ब्रजभाषा के नव रत्न - कृष्णकुमार सिन्हा - पृ. 91
4. रसखान ग्रंथावली - पृ.178

में बालकृष्ण का जो सुन्दर एवं सर्वांगीण चित्र प्रस्तुत हुआ है, वह दर्शनीय है ।

नवधा भक्ति में रसखान को आत्मसमर्पण अत्यन्त ही प्यारा था । उन्होंने अपने को श्रीकृष्ण पर न्योच्छावर कर दिया था । तन मन से वे कृष्ण के हो गए थे । रसखान की भक्ति का प्रमुख तत्व यही आत्मसमर्पण है जिसे उन्होंने अपने पदों के द्वारा अभिव्यक्त भी किया है ।[1]

रसखान श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे, किन्तु उनमें दूसरों के आराध्य देव के प्रति कोई विरोध भावना नहीं थी । यह सच है कि उनके लिए श्रीकृष्ण सर्वोपरि थे । लेकिन साथ-साथ वे राम, शंकर, तथा अन्य सभी देवी देवताओं का भी आदर करते थे । एक पद में उन्होंने कृष्ण और शंकर को अभिन्न माना है ।[2] इस प्रकार उदार दृष्टिवाला होने पर भी रसखान का सर्वस्व श्रीकृष्ण ही था । वे कृष्ण के रूप में लय हो जाना चाहते थे, कृष्णमय हो जाना चाहते थे । इस दृष्टि से वे भक्त कवियों के बीच में श्रेष्ठ स्थान के अधिकारी बन गये हैं ।

गोस्वामी हितहरिवंश

गोस्वामी हितहरिवंश राधावल्लभी संप्रदाय के प्रवर्तक थे ।

---

1. वा मुसकानि पै प्रान दियौ, जिय-जान दियौ वह तान पै प्यारी ।
   मान दियौ मन-मानिक के संग वा मुख मंजु पै जोबन बारी ।।
   रसखान रचनावली - पृ. 63
2. इक ओर किरीट लसै, दुसरी दिसि नागर के गन गाजन री - रसखान
   रचनावली - पृ. 78

वे पहले मध्वानुयायी थे । कहा जाता है कि पीछे उन्हें स्वप्न में राधिका जी ने मन्त्र दिया और उन्होंने अपना एक अलग संप्रदाय चलाया ।[1] हितहरिवंश जी संस्कृत के अच्छे विद्वान थे और भाषा काव्य के अच्छे मर्मज्ञ थे । उनके पदों का संग्रह "हित-चौरासी" के नाम से प्रसिद्ध हैं ।

गोस्वामी हितहरिवंश की उपासना पद्धति अन्यान्य संप्रदायों की भक्ति पद्धति से भिन्न थी । इस संप्रदाय में राधा के मार्फत ही भक्त अपने को भगवान् के पास निवेदित करता है ।[2] अतः उनकी पद्धति में श्रीराधा-चरण की प्रधानता है । किंकरी और सखी भाव ही इस भक्ति पद्धति में प्रमुख है । श्रीराधादेवी के संबंध में गोसाई हितहरिवंश ने जो कविता लिखी है, वह उनकी अनुपम भक्ति और समर्पण की परिचायक है । अनन्य भक्ति और मधुर पदबन्ध दोनों ही दृष्टियों से हितहरिवंशजी व्रजभाषा के दो-तीन कवियों में गिने जाने योग्य है ।[3]

उपर्युक्त भक्त कवियों के अतिरिक्त गदाधर भट्ट, स्वामी हरिदास, सूरदास मदन मोहन, श्री भट्ट, हरीराम व्यास, ध्रुवदास आदि अन्य अनेक भक्त कवियों ने भी हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में कृष्ण भक्ति परक रचनाएँ लिखकर कृष्ण भक्ति काव्य परंपरा को पुष्ट किया है ।

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 124
2. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 121
3. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पृ. 124

कृष्ण भक्ति साहित्य का महत्व

कृष्ण भक्ति मानव भावनाओं के परिष्करण और संस्करण करके उनके ऊर्ध्वगामी पथ को प्रशस्त करती है । वह मनुष्य को बाह्य विषयों की आसक्ति से तो अलग कर देता है, लेकिन उसे शुष्क तत्ववादी और प्रेमहीन कथनी का उपासक नहीं बनाता । वह मनुष्य की सरसता को उद्बुद्ध करता है और निरन्तर रससिक्त बनाता रहता है ।[1] कृष्णभक्ति व्यक्ति को भौतिक जीवन के संघर्षों के ऊपर उठाकर ऐकान्तिक प्रेम पथिक बना लेती है । वह भक्त को भगवान् के चरणों समर्पित करा देती है और समस्त सांसारिकता से मुक्त कर देती है । हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में जितने ही कृष्ण भक्त कवि हुए, उन सबों ने अपने हृदय के भावों को अभिव्यंजित करने के लिए ही काव्य रचना को अपनाया । कृष्ण के प्रति जो स्वाभाविक एवं सहज प्रेम उनके मन में विद्यमान था उसी की अभिव्यक्ति है उनके काव्य । सूरदास, मीराबाई, रसखान जैसे कवियों का उद्देश्य किसी संप्रदाय की पुष्टि न रहकर मात्र अपनी भक्ति की सार्थकता थी । कृष्ण भक्त कवियों की यह विशेषता भी है कि ये समाज शिक्षा या लोक संग्रह के उद्देश्य से नहीं, वरन् पूर्णतः आत्मतुष्टि के लिए ही काव्य रचना करते थे । इसलिए उनके भाव सदा अनर्गल रूप से अपने काव्यों में व्यक्त हुए हैं । इससे काव्यों में भक्ति अत्यन्त सजीव होकर सारे पाठकों को भी भाव विभोर बनाने में समर्थ हो उठी है । सूरदास, मीरा जैसे कवियों की रचनाएँ अपनी इसी सामर्थ्य के कारण देश और काल की सीमाओं का भी उल्लंघन करके विश्वव्यापी प्रभाव डाल सकी हैं ।

---

१. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - पं. हज़ारी प्रसाद द्विवेदी - पृ. 132

रामकाव्य परंपरा

सगुण भक्ति साहित्य दो शाखाओं में चलता था जिनमें एक रामभक्ति की शाखा है । हिन्दी में भक्ति साहित्य के उदयकालीन राजनैतिक परिस्थितियाँ अत्यंत कोलाहलमय थीं । यहाँ का हिन्दू समाज एक शक्त नेतृत्व के अभाव में तडप रहा था । इस समय स्वामी रामानन्द ने युगानुरूप लोकरक्षक, वर्णाश्रम धर्म के पालक, धनुर्धर, मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र का आदर्श खडा किया और रामभक्ति का प्रचार जनता मध्य में किया । इनके शिष्यों में एक विभाग तो केवल राम नाम के पक्षपाती थे, जो निर्गुण भक्ति के पथ पर चलने लगे । सगुण राम के मर्यादापुरुषोत्तम रूप के उपासक तो समूचे उत्तर भारत में दाशरथी राम की भक्ति का प्रचार कर रहे थे । साहित्य के माध्यम से उसकी पूर्ण प्रतिष्ठा का श्रेय गोस्वामी तुलसीदास को है । तुलसीदास के अतिरिक्त भक्तिालीन रामभक्त कवियों में स्वामी अग्रदास का भी उल्लेखनीय स्थान है ।

सगुण भक्ति परंपरा में रामभक्ति को विशिष्ट स्थान प्राप्त होने के अनेक कारण हैं । सर्वप्रथम, उसका उपास्य राम एक श्रेष्ठ सामाजिक आदर्श है । राम अपने जीवन से ही भक्तों को आदर्श प्रस्तुत करते हैं, जिससे भक्त आसानी से उदात्त चरित्र का अनुसरण कर सकता है । दूसरे, रामभक्ति-साहित्य में राम के सौन्दर्य के साथ उनकी वीरता को भी समान महत्व मिला है, जिससे भक्त समूचे कष्टों का सामना करने में प्रेरणा प्राप्त कर सकता है । इनके अलावा, नाम-जप, कीर्तन जैसे भक्तिमार्ग के अन्य सारे तत्व भी इसमें समाविष्ट है । इस प्रकार रामभक्ति, साधना के साथ जीवन को भी उसकी समग्रता के साथ अपने में समेटती है । गोस्वामी तुलसीदास की रचनाएँ इसी प्रकार की रामभक्ति से ओत-प्रोत है ।

गोस्वामी तुलसीदास और रामभक्ति

तुलसीदास के जन्म और बाल्य के बारे में अनेक मत प्रकट किए गए हैं । बाल्य से ही राम के एक भक्त के रूप में वे प्रसिद्ध थे । उनके बचपन का नाम "रामबोला" था ।[1] उन्होंने बाल्यावस्था में ही राम कथा सुन ली थी ।[2] इस प्रकार अपने बचपन से ही रामभक्ति का संस्कार उन्हें प्राप्त हुआ था । यह बात भी सर्वमान्य है कि वे दाम्पत्य जीवन में अत्यंत आसक्त थे और बाद में विरक्त होकर उन्होंने गृह त्याग दिया था ।

तुलसीदास के जीवन से व्यक्त है कि उन्हें जीवन के कटु अनुभवों से गुज़रना पडा था । बाल्य से ही मन में रूढमूल रामभक्ति की पुष्टि ही इन अनुभवों का परिणाम हुई । क्लेशपूर्ण जीवन से लडकर उनका व्यक्तित्व निखर आया । साथ ही उनकी रामभक्ति भी सुचारू ढंग से अभिव्यक्त होने लगी ।

तुलसीदास पर भक्ति आन्दोलन का प्रभाव

तुलसीदास का जीवन काल भक्ति आन्दोलन का युग था । तुलसी के समय में सारा देश विभिन्न प्रकार की भक्ति धाराओं से परिप्लुत था । निर्गुण भक्ति के वक्ता कबीरदास ने निराकार की भक्ति पर जोर देते हुए अवतारवाद का खण्डन किया, वेद-शास्त्र की निंदा की और मूर्ति पूजा तथा वर्णाश्रम धर्म पर प्रहार किया । ये सब तुलसी के लिए असह्य था । इन सब की प्रतिक्रिया तथा सुगुण भक्ति के तत्वों का समावेश उनके साहित्य में हुआ ।

---

1. राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यो राम । विनयपत्रिका - 76
2. तुलसी काव्य मीमांसा -डॉउदयभानु सिंह - पृ. 192

उस समय सगुण भक्ति में भगवान् के कृष्ण अवतार और राम अवतार की उपासना प्रचलित थी । कृष्ण भक्तों और उनके अनेक सिद्धांतों से तुलसीदास अवश्य प्रभावित थे । परंतु भगवान् के लोकरंजक कृष्ण रूप की अपेक्षा लोकरक्षक राम रूप उन्हें अधिक स्वीकार्य था । उन्होंने मधुरभाव की उपासना की एक बडी सीमा तक उपेक्षा की । भगवान् के सौंदर्य के साथ उनके शील और शक्ति को भी तुलसीदास ने महत्त्व दिया । सगुण भक्ति की जो दो विधाएँ - माधुर्य विशिष्ट तथा मर्यादा विशिष्ट-हैं , उनमें कांत-कांता भाव की माधुर्य विशिष्ट रसिक भक्ति श्रृंगारिकता से ओत-प्रोत थी । तुलसी की मनोवृत्ति उसके अनुकूल नहीं थी । इसलिए उन्होंने सेव्य-सेवक भाव की मर्यादावादी भक्ति का प्रतिपादन किया ।

तुलसी की रामभक्ति में वैदिक धर्म के सनातन सिद्धांतों का ही प्रतिफलन मुख्य रूप से मिलता है । परंपरा की दृष्टि से वे रामानन्द के शिष्य नरहरि के शिष्य थे । फिर भी उन्हें रामानन्द संप्रदाय के अन्दर सीमित करना अनुचित है । रामानन्द संप्रदाय में श्री संप्रदाय के अनुकूल विशिष्टाद्वैत दर्शन का अनुसरण होता है । परंतु तुलसीदास ने अद्वैत का भी समर्थन किया है । उन्होंने रामचरितमानस में अद्वैत सिद्धांत के अनुकूल कहा है कि यह सारा जगत रज्जु में सर्प की भाँति सत्य प्रतीत होता है । तुलसी की भक्ति और ईश्वर के संबंध में उनके विचार किसी भी संप्रदाय के सिद्धांतों से अनुशासित नहीं हैं, वे उनके शास्त्राध्ययन और स्वानुभुति पर आधारित है । अब उनकी भिन्न रचनाओं का संक्षिप्त परिचय देकर उनमें से उभरनेवाली तुलसी की भक्ति की विशेषताएँ दिखायी जायेगी ।

तुलसीदास के गौरव ग्रंथ

तुलसीदास के द्वारा रचित अनेक ग्रंथ बताए जाते हैं परंतु असन्दिग्ध रूप में उनके द्वारा रचित माने जानेवाले ग्रंथ केवल बारह हैं । ये हैं : रामचरितमानस, विनयपत्रिका, कवितावली, गीतावली, दोहावली, रामलला नहछु, पार्वती मंगल, जानकी मंगल, बरवै रामायण, वैराग्य संदीपनी, कृष्ण गीतावली और रामाज्ञा प्रश्न ।[1] इन सभी ग्रंथों में भक्ति प्रधान है । इनमें कुछ प्रबंध काव्य है, बाकी मुक्तक । कुछ काव्य ऐसे भी हैं जिनमें कथा के प्रसंग क्रम से हैं, किन्तु प्रबंध काव्य के लक्षणों के अनुसार नहीं है । तुलसी दास की भक्ति का परिचय उनके कवितावली, विनय पत्रिका, रामचरितमानस जैसे ग्रंथों से मिलता है ।

कवितावली

व्रजभाषा में रचित इस ग्रंथ में सात काण्ड हैं । वे हैं बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, लंका काण्ड और उत्तर काण्ड । इस ग्रंथ में रामकथा वर्णित है । इसके उत्तरकाण्ड में तुलसीदास ने भक्तिभाव को प्रधानता दी है । राम को निर्गुण और सगुण बताकर निर्गुणरूप की अपेक्षा सगुण रूप को अधिक श्रेयस्कर बताया गया है । उसी प्रकार दुःख निवृत्ति के अनेक उपाय बताकर उनमें भक्ति को ही अमोघ साधन कहा गया है । कलियुग में अन्य सभी उपाय कठिन हैं, नाम भक्ति ही सरल है । "कवितावली" में भक्ति के आदर्श के रूप में चातक को प्रस्तुत किया गया है । इसमें प्रपत्ति और विनय

---

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास-आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 140

का समग्र वर्णन मिलता है । कवितावली के परिशिष्ट के रूप में संकलित हनुमान बाहुक में आर्तभक्ति का निवेदन अत्यंत मर्मस्पर्शी है ।

विनय पत्रिका

"विनय पत्रिका" का अर्थ है : प्रार्थना पत्र, अरजी । यह अरजी तुलसी ने राम की सेवा में भेजी है । राजा महाराजाओं की ड्योढियों की भाँति विनयपत्रिका में भी सात ड्योढियाँ हैं । इन सातों परिसरों पर अधिकारी तैनात हैं : गणेश, सूर्य, शिव, दुर्गा, गंगा, यमुना और हनुमान । सात ड्योढियों के पार भगवान् राम का राजमहल है । वहाँ तीन विशिष्ट अंगरक्षक हैं : लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न । विनय पत्रिका में गणेश से शत्रुघ्न तक सभी राजसेवकों को स्तुतियों द्वारा प्रसन्न करके प्रार्थी तुलसीदास अंत:पुर में प्रवेश करते दिखाए गए हैं । वे जगजननी जानकी से भी सिफारिश की प्रार्थना करते हैं । इन सभी से किए गए निवेदन के अंत में वे अविरल रामभक्ति का वरदान माँगते हैं ।

"विनयपत्रिका"की स्तुतियों में तुलसीदास ने भक्ति सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है । ब्रह्म, जीव और माया का सम्यक् विवेचन इसमें हुआ है । मायाधीन जीव के क्लेश के दो कारण हैं : अज्ञान और आसक्ति । इनका निवारण ज्ञान और भक्ति से संभव माना गया है । यज्ञ आदि उपायों को यथायोग्य स्थान देते हुए भी तुलसीदास ने भक्ति को भवमोचन में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ठहराया है । चित्त शुद्धि के उपाय के रूप में भी रामभक्ति को सर्वोत्तम माना गया है ।

विनयपत्रिका में सर्वाधिक मान्यता प्रपत्ति या आत्मनिवेदन को मिला है । डा.उदयभानु सिंह ने अपनी "तुलसी काव्य मीमांसा" नामक रचना में इसे प्रपत्तिकाव्य नाम से अभिहित किया है ।[1] इसमें प्रपत्ति के विविध रूपों की मर्मस्पर्शी निबंधना हुई है । शास्त्रकारों ने प्रपत्ति की जो विधाएँ मानी हैं, उन सब का सम्यक् समावेश "विनयपत्रिका" की भक्ति में हुआ है ।

रामचरितमानस

तुलसीदास का "रामचरितमानस" विश्वसाहित्य की श्रेष्ठ रचनाओं में एक है । भारतीय भक्तिकाव्यों एवं महाकाव्यों की परंपरा को विकसित करने में इसका महत्वपूर्ण योगदान है । इस ग्रंथरत्न में कवि की मौलिकता एवं विद्वत्ता का मणिकांचन संयोग हुआ है । मानस की वर्ण्यवस्तु किन किन ग्रंथों पर आधारित है, यह मानस के ही इस श्लोक से स्पष्ट होता है :

नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबन्धमतिमंजुलमातनोति ।।[2]

रामचरितमानस का साहित्यिक सौंदर्य

रामचरितमानस एक श्रेष्ठ भक्तिकाव्य है । इसमें भक्ति का ही नहीं काव्यशास्त्र की मांगों का भी पूरा निर्वाह हुआ है । मानसकार की कलाविषयक विशाल धारणा के कारण मानस में "सत्यं, शिवं, सुन्दरं" के तत्वों का पूर्ण समावेश हुआ है । इसका प्रतिपाद्य चिरन्तन सत्य परब्रह्म राम और

---

1. तुलसी काव्य मीमांसा -डॉ.उदयभानु सिंह - पृ.459
2. मानस - बालकाण्ड - श्लोक 7

उनकी नित्यलीला है । वे समस्त लोक के मंगल का कारण है । उसे प्रस्तुत करने में "सुन्दरं" तत्व पर पूर्ण ध्यान रखा गया है ।

रामचरितमानस की सबसे बडी विशेषता उसकी प्रबंधात्मकता है । रामकथा एक विशाल समुद्र के समान है । तुलसीदास ने उसके स्वस्थ प्रसंगों को ही अपनाकर उसे मानस के सात सोपानों में अभिव्यक्त किया । उन्होंने कथा के अनावश्यक प्रसंगों को सर्वथा त्याग दिया है । उदाहरण-स्वरूप सीता परित्याग जैसे प्रसंग हैं । ये राम के चरित्र को लेकर वाद-विवाद के लिए विषय देते हैं । तुलसी ने मानस में ऐसे प्रसंगों को स्थान नहीं दिया है । जन मानस पर इस काव्य का प्रभाव अत्यधिक और गंभीर होने का यह एक मुख्य कारण है ।

पात्रों के चरित्रांकन में भी तुलसी ने बडी सूक्ष्म दृष्टि अपनायी है । वे कुछ आदर्शों को प्रस्तुत करना चाहते थे, अतः उनके अनुकूल ही उन्होंने पात्र चुने । राम को उन्होंने शील, सौंदर्य और शक्ति का मूर्तिमान रूप स्वीकार किया । भगवान् के ये ही तीन विभूतियाँ मनुष्य के लिए मंगलकारिणी हैं । भरत में विनम्रता एवं त्याग, हनुमान में निस्वार्थ सेवापरायणता, सीता में पतिपरायणता आदि साकार बनकर आया है । इस प्रकार मानस के सभी प्रमुख पात्र किसी-न-किसी आदर्श को प्रस्तुत करते हैं ।

रामचरितमानस का भावपक्ष एवं कला पक्ष दोनों ही अत्यंत पुष्ट एवं सशक्त है । इसमें ऐसे अनेक प्रसंग मिलेंगे , जिनमें भावों की सूक्ष्म अभिव्यक्ति रसस्फूर्ति में अत्यंत सहायक हुई है । राम की बाललीला वर्णन में

वात्सल्य रस, पुष्पवाटिका प्रसंग में श्रृंगार रस, केवट प्रसंग में हास्य रस, युद्ध के प्रसंगों में वीर रस, सीता के अशोकवनवास प्रसंग में करूण रस आदि दर्शनीय है । तुलसीदास का श्रृंगार वर्णन अत्यंत संयमित एवं मर्यादा का किंचित् भी उल्लंघन नहीं करनेवाला है । उसी प्रकार करूणा के वर्णन के प्रसंग में पशु-पक्षी, जड-चेतन सब का सब करूणार्द्र बन गए हैं । राम वनगमन का प्रसंग इसके लिए द्रष्टव्य है :

हय गय कोटिन्ह केलि मृग पुरपसु चातक मोर ।
पिक रथांग सुक सारिका सारस हंस चकोर ।।
राम वियोग बिकल सब ठाढे । जहँ तहँ मनहुँ चित्र लिखि काढे ।।[1]

मानस का कलापक्ष भी सौष्ठव पूर्ण है । अलंकारों का प्रयोग सौंदर्य वृद्धि के उद्देश्य से किया गया है । इसमें सादृश्यमूलक अलंकारों का प्रयोग अत्यंत कुशलता पूर्वक किया गया है । रामचरितमानस का छंद विधान भी अत्यंत श्रेष्ठ कोटि का है । दोहा-चौपाई शैली कथा प्रवाह के अत्यंत अनुकूल हुई है । इसकी भाषा का सौंदर्य सचमुच अनूठा है । भाषा में प्रसंगानुकूल ओज, माधुर्य और प्रसाद गुण आए हैं । संस्कृत गर्भित अवधी भाषा के प्रयोग के कारण यह ग्रंथ सामान्य जनता और पंडित समाज दोनों का प्रिय बन गया है ।

रामचरितमानस के दार्शनिक सिद्धांत

रामचरितमानस भारतीय पौराणिक परंपरा का ग्रंथ है । इसमें चतुर्वर्गों की, अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की, व्याख्या हुई है ।

---

1. मानस - अयोध्या काण्ड - 83, 84.

मानस में गोस्वामी तुलसीदास ने व्यक्ति, परिवार, समाज, देश और विश्व के लिए एक स्वस्थ धर्म व्यवस्था प्रदान की है । आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति उन्होंने आवश्यक मानी है ।[1] समस्त कामनाओं की पूर्ति असंभव मानने पर भी धर्मानुकूल आग्रहों की पूर्ति की उन्होंने अनुमति दी है ।[2]

लेकिन धर्म, अर्थ और काम से बढकर मोक्ष को मानसकार ने प्रमुख माना है । कहीं कहीं मोक्ष की प्राप्ति के साधन के रूप में और कहीं कहीं मोक्ष से भी बढकर उन्होंने भक्ति को स्थान दिया है । रामचरितमानस के अनुसार मोक्ष भगवत्प्राप्ति है । मानस का भगवान राम ब्रह्म से अभिन्न है । इस ब्रह्म का जीव लोक में अवतार होता है । अवतार का प्रयोजन सुर रंजन, भूभार भंजन और सज्जन सुखदान हैं । अवतीर्ण राम की उपासना और भक्ति ही भगवत्प्राप्ति की सर्वश्रेष्ठ और सरल साधना है । तुलसी ने मानस में नाम साधना को भी अत्यंत महत्वपूर्ण बताया है ।

रामचरितमानस में भक्ति

तुलसी की रचनाओं में कई दृष्टियों से सर्वाधिक महत्वपूर्ण रचना रामचरितमानस ठहरती है । तुलसी साहित्य का मुख्य स्वर भक्ति का है और इसका सर्वांगीण वर्णन मानस में मिलता है । मानस में भक्ति का स्वरूप, भक्ति के भेद, भक्ति का महत्व और भक्तिसाधनाओं का सूक्ष्म वर्णन मिलता है ।

---

1. नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना । मानस - उत्तरकाण्ड - 21.3
2. राम नाम कलि अभिमत दाता । मानस - बालकाण्ड - 27.3

इस महाकाव्य में पात्रों का चरित्रांकन और घटनाओं का समावेश एक विस्तृत कैनवास में हुआ है । यह इसके भक्ति विवेचन में अत्यंत सहायक हुआ । मानस का राम ब्रह्म है । अतः राम के प्रति किए जानेवाला प्रेम भक्ति है । मानस के पात्रों में भरत, सीता, लक्ष्मण, दशरथ आदि राम को अपना बन्धु मानकर उनसे प्रेम करता है । वे भक्ति की उच्चावस्था में पहुँच जाते हैं । हनुमान, विभीषण जैसे पात्र राम से नाता जोड देते हैं और उनके प्रेम में मग्न होकर उत्तम भक्त बन जाते हैं ।

मानस की भक्ति की यह विशेषता है कि वह सब के लिए उन्मुक्त है । मनुष्यों में स्त्री-पुरुष, बालक-वृद्ध, राजा-रंक सभी भक्ति की प्राप्ति करते हैं । साथ ही मनुष्येतर प्राणी भी भक्ति की प्राप्ति से धन्य होते हैं । मानस में आए भक्तों में हनुमान जैसे वानर, विभीषण जैसे राक्षस, काक भुशंडि जैसे पक्षी आदि भी सम्मिलित हैं । इस प्रकार मानसकार ने भक्ति को समाज के सारे व्यक्तियों तक पहुँचाया है ।

मानस की भक्ति प्रेमरूपा है । उसकी अभिव्यक्ति मुख्यतः सेवा में होती है । भरत, हनुमान, निषाद राज गुह आदि इसके उदाहरण हैं । साथ ही कीर्तन, स्मरण और ध्यान से जनित असाधारण मानसिक अवस्थाओं का भी वर्णन सुतीक्ष्ण जैसे भक्तों के प्रसंग में आया है । इनसे स्पष्ट है कि मानस में भक्ति को उसकी समग्रता में प्रस्तुत किया गया है ।

मानस वर्णित भक्ति केवल व्यक्तिगत एकान्त साधना नहीं है । वह व्यावहारिक क्षेत्र में लोक मंगल की प्रेरणा करनेवाली है । उसमें ऐसे उपास्य

की कल्पना है जो लोकरक्षक और लोकरंजक दोनों हैं । साथ ही उसमें कट्टरपन का नितांत अभाव है और समन्वय की भावना है । तुलसीदास हिन्दू धर्म की समन्वयवादी विचार धारा की परंपरा में अपने समय के सबसे बडे समन्वयकार थे ।[1] उनकी यह समन्वयात्मक दृष्टि मानस में सर्वाधिक उभर आयी है ।

अन्य रामभक्त कवि

भक्तिकाल की रामभक्तिशाखा में तुलसीदास का व्यक्तित्व इतना विराट था कि उनके समकक्ष आनेवाले कोई भी अन्य राम भक्त कवि नहीं हुए । फिर भी रामभक्ति शाखा की चर्चा के संदर्भ में उल्लेख करने योग्य कुछ श्रेष्ठ कवि हुए हैं । उनमें रामानन्दजी के प्रशिष्य कृष्णदास पयहारी के शिष्य अग्रदासजी महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । "ध्यानमंजरी", "रामध्यानमंजरी", आदि उनकी रचनायें हैं । अग्रदास के शिष्य नाभादास हिन्दी भक्त कवियों में ऊँचे स्थान के अधिकारी हैं । उनकी प्रसिद्ध रचना भक्तमाल एक ऐसा अपूर्व ग्रंथ है कि इसकी एक अपनी परंपरा स्थापित हो गयी । इस ग्रंथ में दो सौ भक्तों के चमत्कारपूर्ण चरित्र 316 छप्पयों में लिखे गये हैं । इन चरित्रों में पूर्ण जीवन चरित्र नहीं है, केवल भक्ति की महिमा सूचक बातें दी गई हैं । इनका उद्देश्य भक्तों के प्रति जनता में पूज्यबुद्धि का प्रचार है । वह उद्देश्य बहुत अंशों में सिद्ध भी हुआ । अग्रदास के समान नाभादास ने भी राम भक्ति संबंधी कविता की है । रामचरित संबंधी उनके पदों का एक-संग्रह प्राप्त हुआ है । इनके अलावा "हनुमन्नाटक" के रचयिता हृदयराम, "रामायण महानाटक" के रचयिता प्राणचन्द चौहान आदि रामभक्त कवि भी इस काल में हुए । परन्तु तुलसीदास

---

1. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना - ब्योहार राजेन्द्र सिंह - पृ. 6

के अत्यन्त लोकप्रिय और प्रभावशाली साहित्य के आगे ये सभी परवर्ती काव्य प्रयत्न फीके पड गये ।[1] ये सब कवि भाषी साहित्य को किसी प्रकार से चालित या प्रभावित करने में समर्थ न हो सके । रामचरित को लेकर इनके द्वारा रचित काव्य तुलसी की रचनाओं के गौरव तक बिलकुल पहुँच नहीं सके ।

GSC27
UNIVERSITY LIBRARY • COCHIN UNIVERSITY OF SCIENCE AND TECHNOLOGY • COCHIN - 682 022

रामभक्ति साहित्य का महत्व

रामभक्ति का साहित्य सामाजिक मर्यादा के रक्षण का साहित्य है । राम को आश्रय करके लिखे गए साहित्य में सामाजिक विधि-निषेधों की ओर काफी ध्यान दिया गया है । तुलसीदास जैसे महान् भक्त रामभक्ति में भक्ति का पूर्ण विकसित रूप लाने में सफल हुए । भगवान् के अवतार को लेकर चलनेवाली सगुण भक्ति का पूर्ण विकास तुलसी की रामभक्ति में पाया जाता है । उनकी सामाजिक प्रतिबद्धता उन्हें रामराज्य की कल्पना करने को बाध्य कर देती है । इस प्रकार राम भक्ति में लोकमंगल की भावना को दृढ़ आधार मिली है । कृष्ण भक्ति शाखा कृष्ण भगवान् के धर्मस्वरूप को - लोकरक्षक और लोकरंजक स्वरूप को - छोडकर केवल मधुर स्वरूप और प्रेमलक्षणा-भक्ति को लेकर चली । इससे धर्म-सौंदर्य के आकर्षण से वह दूर पड गयी ।[2] तुलसीदास जी ने भक्ति को अपने पूर्ण रूप में, श्रद्धा-प्रेम समन्वित रूप में, सब के सामने रखा और धर्म या सदाचार को उसका नित्यलक्षण निर्धारित किया । अपनी समन्वय भावना के कारण भी रामभक्ति साहित्य में विशिष्ट स्थान की अधिकारी बन गयी है । शुद्ध साहित्यिक दृष्टि से भी इसका महत्व किसी भी अन्य शाखा से कम नहीं है । इस प्रकार आध्यात्मिक, धार्मिक, सामाजिक एवं

---

1. हिन्दी साहित्य: उद्भव और विकास - पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी - पृ. 145
2. हिन्दी साहित्य का इतिहास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 105

साहित्यिक दृष्टियों से सर्वोच्च पद प्राप्त करके हिन्दी का राम भक्ति साहित्य हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल का सर्वाधिक समादृत वस्तु बन गया है ।

भक्तिशास्त्र और हिन्दी भक्ति काव्य

हिन्दी भक्ति साहित्य के उद्भव के मूल कारणों की विवेचना करते हुए पं. हज़ारीप्रसाद द्विवेदी ने यह स्पष्ट रूप से सिद्ध किया है कि इसका संबंध हमारी प्राचीन आध्यात्मिक परंपरा से ही है । हमारी आध्यात्मिक परंपरा में भक्ति को जो महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है उसका विवेचन पहले अध्याय में किया जा चुका है । संस्कृत के भक्ति शास्त्र ग्रंथों में भक्ति का स्वरूप, उसके प्रकार, उसकी साधनायें आदि का जो विवेचन हुआ है, उस पर भी पहले अध्याय में प्रकाश डाला गया था । अब हिन्दी के भक्तिकालीन काव्य की इस विवेचना से एक बात स्पष्ट होती है - समूचे हिन्दी भक्तिकाव्य में भक्तिशास्त्र के विभिन्न सिद्धांत प्रत्यक्ष या परोक्ष ढंग में प्रकट हुए हैं । भक्ति का परम प्रेम रूपा होना, उसमें अनन्य निष्ठा और समर्पण की अनिवार्यता तथा भेदभावना का अभाव आदि भक्तिशास्त्रोक्त बातें हिन्दी भक्ति काव्य में पूर्णतः चरितार्थ हुई हैं । भक्ति के दास्य, सख्य, वात्सल्य, माधुर्य जैसे भेद, भिन्न भक्तिसाधनाएँ आदि भी हिन्दी के भक्त कवियों में प्रकट हुए हैं । हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों में सर्वप्रमुख गोस्वामी तुलसीदास में तो भक्तिशास्त्र में प्रतिपादित सारे तत्व एक साथ प्रकट हुए हैं । उनका महाकाव्य रामचरितमानस भक्ति से संबंधित सारी बातों को प्रस्तुत करनेवाली एक अनुपम रचना है ।

निष्कर्ष

हिन्दी साहित्य के इतिहास में पन्द्रहवीं शताब्दी में जो भक्ति साहित्य का आविर्भाव हुआ, उसने जनता को एक नवीन जीवन दृष्टिकोण एवं नवीन जीवनादर्श प्रदान किया । उसने जन मानस में भक्ति की अमृत वर्षा की एवं नयी प्रेरणाओं से भारतीय समाज की पुनःसृष्टि की । प्राचीन काल से ही भारतीय जनमानस में आध्यात्मिकता की जो प्रवृत्ति प्रबल रूप में विद्यमान थी, वही प्रवृत्ति इस काल में ईश्वर के प्रति प्रेम और समर्पण-रूपी भक्ति के रूप में प्रकट हुई । कवित्व शक्ति-संपन्न प्रतिभावान् भक्त ही इस समय कवियों के रूप में प्रकट हुए । इनमें निर्गुण ईश्वर में भक्ति रखनवाले कबीर जैसे सन्त हुए जो समाज में व्याप्त अनेकानेक अनाचारों को दूर करने में सफल हुए । उन जैसे अनेक कवि समाज के निम्न वर्ग से ऊपर आये और एक महान् सामाजिक क्रान्ति ही खडा करने में सफल हुए । मलिक मुहम्मद जायसी जैसे सूफी सन्त भारतीय प्रेम कथाओं को आधार बनाकर सूफी संप्रदाय के अनुसार ईश्वर प्रेम का वर्णन किया । सगुण भक्ति में सूरदास और तुलसीदास क्रमशः कृष्णभक्ति एवं समभक्ति के अग्रदूत बने । सूर ने कृष्ण के विविध रूपों का मार्मिक चित्रण करके भक्ति के विभिन्न रूपों को प्रस्तुत किया । कृष्ण की मधुर उपासना करनेवाली मीराबाई तथा मुसलमान कृष्ण भक्त रसखान आदि ने भी कृष्ण भक्ति की अमृतधारा बहाने में कोई कसर नहीं उठा रखी । तुलसीदास ने रामभक्ति का अनन्य आदर्श खडा करके आध्यात्मिक एवं सामाजिक दोनों दृष्टियों से अतीव महत्व का कार्य किया । हिन्दी भक्ति साहित्य के लिए तुलसीदास की देन गुण और मात्रा दोनों में अत्यधिक थी । उनकी रचनाओं ने सामान्य जनता एवं साहित्यिक मर्मज्ञ दोनों को सात्विक आनंद एवं श्रेष्ठ जीवन की प्रेरणा प्रदान की ।

भक्तिकाल के कवियों ने हिन्दी साहित्य एवं भारतीय भक्ति साधना को जो महत्वपूर्ण देन दी है, उसमें अकेले तुलसीदास का योगदान सर्वोपरि है । तुलसीदास की सर्वश्रेष्ठ रचना रामचरितमानस साहित्यिक महत्व एवं आध्यात्मिकता दोनों की दृष्टि से अत्यन्त श्रेष्ठ कोटि का ग्रंथ सिद्ध हुआ । उसका प्रभाव जनमानस पर इतना अधिक पड गया कि सारे उत्तर भारत में आज भी वह आध्यात्मिक विषयों के प्रामाणिक ग्रंथ के रूप में समादृत हो रहा है । भक्तिशास्त्र के सारे सिद्धांत मानस की भक्ति में प्रकट हुए हैं, अतः यह ग्रंथ भक्ति की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण भी ठहरता है ।

तृतीय अध्याय

रामचरितमानस में भक्ति का स्वरूप

भक्त भगवान् से भक्ति के द्वारा संबंध स्थापित करते हैं । भगवान् के अनेक रूप होते हैं जैसे निर्गुण-निराकार, सगुण- निराकार और सगुण-साकार तथा सगुण-साकार-भगवान् के विष्णु, शिव आदि रूप । इन सब के अलावा भगवान् के राम, कृष्ण आदि विभिन्न अवतार भी हैं । भगवान् के इन विभिन्न रूपों में किसी भी रूप के प्रति की जानेवाली भक्ति भगवद् भक्ति है ।

भक्तिशास्त्र में भगवान् के निर्गुण तथा सगुण दोनों रूपों की भक्ति का विवेचन हुआ है । शांडिल्य भक्तिसूत्रों के तीसरे सूत्र "तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्" में निर्गुण ब्रह्म की भक्ति का संकेत मिलता है ।[1] यहाँ उपनिषद् के ब्रह्म में प्रतिष्ठित होनेवाले को भक्त माना गया है । परंतु भक्तिशास्त्र के अधिकांश ग्रंथों में ईश्वर के विष्णु, शिव आदि सगुण-साकार रूपों की भक्ति की चर्चा ही प्रमुख रूप से प्राप्त होती है । उनमें भी भगवान् के अवतारों की भक्ति को अधिक प्रमुखता दी गई है ।

भगवान् के अवतारों में उनकी लीलाओं का विस्तार होने के कारण उनके प्रति जीवों का आकर्षित होना अधिक सहज है । अतएव अवतारों की भक्ति ही भक्तिशास्त्र में अधिक चर्चित हुई है । रामचरितमानस में गोस्वामी तुलसीदास ने भी भगवान् के प्रमुख अवतार श्रीरामचन्द्र की भक्ति का

---

1. शांडिल्य भक्तिसूत्र 3 पर स्वप्नेश्वर भाष्य ।

मुख्य आलंबन बनाया है । इस प्रकार मानस की भक्ति भक्तिशास्त्र में वर्णित भक्ति के अनुरूप बन जाती है और भक्तिशास्त्र के आधार पर विश्लेषित करने योग्य बन जाती है । वास्तव में भक्तिशास्त्र में भक्ति की जो विशद एवं सूक्ष्म मीमांसा हुई है, उसी के आधार पर ही मानस की भक्ति का विश्लेषण किया जा सकता है ।

रामचरितमानस में रामचरित का आश्रय लेकर कवि ने भक्ति की पुष्टि की है । भक्ति का आलंबन होने के कारण इसमें राम का रूप पूर्णत: ईश्वरीय है । तुलसी ने मानस के बालकाण्ड में ही बताया है कि मेरी यह रामकथा "नानापुराणनिगमागमसम्मत" और रामायण में वर्णित है ।[1] कथा के विस्तार के लिए उन्होंने वाल्मीकिरामायण को ही अपनाया है ।[2] वाल्मीकि रामायण में राम महापुरुष है ।[3] उसमें ऐसे स्थल बहुत कम हैं जहाँ उन्हें विष्णु का अवतार बताया गया हो ।[4] इससे स्पष्ट है कि रामायण में प्रतिपादित होने पर भी मानस की कथा में तुलसीदास ने एक दूसरा दृष्टिकोण अपनाया है । यह दृष्टिकोण मुख्यत: अध्यात्मरामायण पर आधारित है । आध्यात्मरामायण में राम पूर्णत: ईश्वर है । मानस में तुलसी ने यद्यपि कथाचित्रण में मौलिकता दिखाई है, फिर भी अधिकतर अध्यात्म का आदर्श ही स्वीकार किया है ।[5]

---

1. नानापुराणनिगमागमसम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि ।
   स्वान्त: सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषानिबद्धमतिमंजुलमातनोति ।।
   रामचरितमानस - बालकाण्ड - श्लोक 7
2. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा. रामकुमार वर्मा - पृ. 424
3. आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजम् । वाल्मीकिरामायण - युद्धकाण्ड- 117.11
4. हिन्दी साहित्य की भूमिका - पं हज़ारी प्रसाद द्विवेदी - पृ. 157
5. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा. रामकुमार वर्मा -पृ. 425

रामचरितमानस में राम का स्वरूप

मानस के राम पर अध्यात्मरामायण और वाल्मीकिरामायण का प्रभाव

यहाँ इस बात का थोडे विस्तार से देखना आवश्यक है कि मानस का राम किस भाँति वाल्मीकि रामायण और अध्यात्मरामायण से संबंध रखता है । पहले अहल्योद्धार की घटनाओं को देखें । वाल्मीकिरामायण के अनुसार राम-लक्ष्मण ने देखा कि अहल्या शिलारूप से तपस्या कर रही है । उसमें इतनी प्रभा है कि मनुष्य, देवता और राक्षस कोई भी समीप नहीं आ सकता । वह गौतम के शाप से लोगों के लिए अदृश्य थी । शाप के अनुसार जब तक राम के दर्शन न होंगे तब तक त्रिलोक का कोई व्यक्ति उसे देख नहीं सकता था । राम-लक्ष्मण दोनों ने मुनि-पत्नी जानकर अहल्या के चरण छुए । अहल्या गौतम के वचनों का स्मरण कर उन दोनों के चरणों पर गिरी ।[1]

---

1. ददर्श च महाभागां तपसा द्योतितप्रभाम् ।
   लोकैरपि समागम्य दुर्निरीक्ष्यां सुरासुरैः ।।
   सा हि गौतमवाक्येन दुर्निरीक्ष्या बभूव ह ।
   त्रयाणामपि लोकानां यावद्रामस्य दर्शनम् ।।
   राघवौ तु तदा तस्याः पादौ जगृहतुर्मुदा ।
   स्मरन्ती गौतमवचः प्रतिजग्राह सा हि तौ ।।
   वाल्मीकिरामायण - बालकाण्ड - 49.13-15

अध्यात्मरामायण में इस प्रसंग का निरूपण इस प्रकार है - राम ने अपने चरण से स्पर्श करके उस तपस्विनी को देखा और अहल्या को यह कहकर प्रणाम किया कि मैं राम हूँ ।[1]

रामचरितमानस में इस प्रसंग का वर्णन देखिए -

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तेजपुंज सही ।
देखत रघुनायक जन सुखदायक सनमुख होइ कर जोरि रही ।[2]

इन तीनों उद्धरणों से ज्ञात होता है कि वाल्मीकिरामायण में अहल्या अदृश्य है और राम-लक्ष्मण अहल्या के चरण छुते हैं । अध्यात्मरामायण में अहल्या शिला पर खडी होकर तपस्या करती है । राम उस शिला को पैर से छुते हैं और अहल्या को केवल प्रणाम करते हैं । मानस में अहल्या अदृश्य-पाषाण रूप है और राम के पवित्र चरणों का स्पर्श पाकर आनंदित होती है । तुलसीदास ने कथाभाग का रूप तो वाल्मीकिरामायण के अनुसार ही रखा है, पर दृष्टिकोण अध्यात्मरामायण के अनुसार । तुलसीदास की अहल्या वाल्मीकिरामायण की अहल्या के अनुरूप पाषाण रूप है, पर वह अध्यात्मरामायण की अहल्या की भांति राम के चरणों का स्पर्श पाती है ।[3] अध्यात्मरामायण में राम का व्यक्तित्व महान् रहा है । वे अहल्या के चरणों का स्पर्श न कर केवल उसे प्रणाम करते हैं ।

---

1. रामः पदा शिलां स्पृष्ट्वा तां चापश्यत्तपोधनाम् ।
   ननाम राघवोऽहल्यां रामोऽहमिति चाब्रवीत् ।।
   अध्यात्मरामायण बालकाण्ड - 5.26
2. मानस. बालकाण्ड. 211. छंद.1.
3. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - डा. रामकुमार वर्मा -पृ. 425

वे शिला को पैर से छूते हैं, इस में उनका ईश्वर-भाव है । मानस का राम परमेश्वर हैं, अतः वे अहल्या को प्रणाम भी नहीं करते, प्रत्युत गंभीरता से अपने पावन पाद का स्पर्श उसे करा देते हैं । इससे सिद्ध है कि मानस के राम का स्वरूप अध्यात्मरामायण के राम के अधिक निकट है । ऐसा होने पर भी अपने आराध्य के प्रति तुलसीदास का भक्तिपूर्ण दृष्टिकोण बिलकुल मौलिक रहा है ।

निर्गुण और सगुण

जैसा कि पहले बताया गया है, मुख्यतः ईश्वर के दो रूप भक्ति के आलंबन बन सकते हैं : निर्गुण रूप और सगुण रूप । निर्गुण भक्ति में ईश्वर के गुणातीत रूप अर्थात् परब्रह्म की उपासना की जाती है । सगुण भक्ति में ईश्वर के सगुण-साकार रूप की उपासना है । ईश्वर के भिन्न अवतारों की उपासना भी इसमें आती है । दोनों प्रकार की साधनाएँ प्राचीन काल से ही प्रचलित हैं ।[1] निर्गुण की उपासना कठिन मानी जाती थी क्योंकि इसमें नेत्रादि इंद्रियों केलिए कोई निश्चित आधार नहीं रहता था ।[2] इसलिए सामान्यतया भक्तिमार्गीय साधक ईश्वर के सगुण-साकार रूप का ही आश्रय लेता है । तुलसीदास ने भी यही किया है । मानस के अरण्यकाण्ड में अगस्त्य मुनि के मुख से इस बात का समर्थन हुआ है । अगस्त्य यह स्वीकार करते हैं कि राम

---

1. हिन्दी साहित्य का अतीत, भाग । - आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र - पृ. 158

2. क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
   अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।। गीता 12.3

अखण्ड और अनन्त ब्रह्म है, जो अनुभव से जाना जाता है । संत जनों के उपास्य उस ब्रह्म को वे जानते भी हैं । फिर भी वे सगुण ब्रह्म में रमण करना पसंद करते हैं :-

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता । अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ।।
अस तव रूप बखानउँ जानउँ । फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ ।।[1]

इन पंक्तियों में तुलसीदास के राम का संक्षिप्त किन्तु संपूर्ण चित्र उभर आया है । मानस में तुलसीदास ने अपने ढंग से सगुण एवं निर्गुण का विवेचन किया है । मानस के बालकाण्ड के प्रारंभ में ही वे कहते हैं कि भगवान् एक, अनीह, अरूप, अनाम, अज, सच्चिदानन्द, परधाम, व्यापक एवं विश्वरूप है ।[2] यहाँ "एक", "अनीह", "अरूप", "अनाम", "अज" आदि शब्दों के द्वारा उन्होंने ब्रह्म के निर्गुण रूप की ओर इंगित किया है । साथ ही "व्यापक एवं "विश्वरूप" कहकर उन्होंने भगवान् के व्यापक सृष्टिमय रूप की ओर संकेत कर उनका सगुण स्वरूप बताया है ।

अवतारवाद

सगुण भक्ति में अवतारवाद का अत्यधिक महत्व है । इसकी पुष्टि वेदों से लेकर समस्त मुख्य शास्त्रग्रंथों में हुई है । श्रीमद्भगवद् गीता के चतुर्थ अध्याय में भगवान् ने स्पष्टतः कह दिया है कि जब जब धर्म की क्षति और

---

1. मानस - अरण्यकाण्ड - 13.6-7
2. एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानन्द परधामा ।।
   व्यापक बिस्वरूप भगवाना । तेहिं धरि देह चरित कृत नाना ।।
   मानस - बालकाण्ड - 13.2

अधर्म का उत्थान होता है, तब तब मैं अवतार ग्रहण करता हूँ ।[1] अवतार का उद्देश्य है साधुओं का परित्राण, दुष्टों का विनाश एवं धर्म की स्थापना ।[2] भागवत के अनुसार अवतारों की संख्या चौबीस है[3] पर प्रमुख अवतार दस ही माने गये हैं ।[4] तुलसी ने भी दस अवतारों का उल्लेख किया है ।[5] नारद भक्तिसूत्र, शांडिल्य भक्तिसूत्र आदि में भी अवतारवाद का समर्थन किया गया है ।[6] नारद ने आदर्श भक्तों के रूप में व्रजगोपिकाओं को प्रस्तुत किया है । गोपिकाएँ श्रीकृष्ण में भक्ति रखती थी । कृष्ण भगवान् का प्रमुख अवतार है । इससे अवतारवाद में नारद भक्तिसूत्रकार का विश्वास स्पष्ट होता है । शांडिल्य ने तो स्पष्ट ही कहा है कि भक्ति भगवान् के प्रमुख अवतारों की होती है ।[7] भक्तिरसामृतसिंधु में श्रीकृष्ण को ही मुख्य आश्रय बनाया गया है । इस प्रकार के भक्तिशास्त्र सम्मत अवतारवाद को ही तुलसीदास ने भी अपनाया है । "तेहि धरि देह चरितकृत नाना" कहकर उन्होंने अवतारवाद की ओर संकेत किया है ।

---

1. यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
   अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मानं सृजाम्यहम् ।। गीता 4.7
2. परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
   धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। वही 4.8
3. श्रीमद् भागवत - स्कंध 2, अध्याय 7, श्लोक 1-38
4. वही स्कंध 11.4. 18-23
5. विनयपत्रिका पद 52
6. यथा व्रजगोपिकानाम् । ना.भ.सू. 21
7. एवं प्रसिद्धेषु च । शा.सू. 55

तुलसीदास ने रामचरितमानस में अवतारवाद को लक्ष्य करके जो लिखा है वह गीतोक्त सिद्धांत के अनुकूल है । मानस के बालकाण्ड में देखिए-

जब जब होइ धरम के हानी । बाढहिं असुर अधम अभिमानी ।
करहिं अनीति जाइ नहिं बरनी । सीदहिं बिप्र धेनु सुर धरनी ।।
तब तब प्रभु धरि बिबिध सरीरा । हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा ।।
असुर मारि व्यापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग बिस्तारहिं बिसद जस राम जन्म कर हेतु ।।[1]

अर्थात् जब जब धर्म की हानि होती है और अधम अभिमानी राक्षसों की वृद्धि होती है, तब तब भगवान् मनुज रूप धारण करते हैं और संसार की पीडा दूर करते हैं । तुलसीदास ने राम जन्म के हेतु के रूप में "जग बिस्तारहिं बिसद जस" का जो उल्लेख किया है उसका विशेष महत्व है । भक्तों के अनुसार भगवान् के जन्म की मुख्य हेतु भूभारहरण नहीं है । मुख्य कारण भक्तों पर अनुग्रह करना है । "नारायणीयम्" में कहा गया है कि भूभारग्रहण के व्याज से अपने भक्तों को मोक्ष देने के लिए भगवान् अवतीर्ण होते हैं ।[2] यह तभी संभव है जब भगवान् की अवतार-लीलाएँ जन सामान्य में बहुत प्रचलित हों, भगवान् की कीर्ति अतिव्याप्त हों । इसी को तुलसी ने "जग बिस्तारहिं बिसद जस" कहा है । तुलसी ने यह बात स्पष्ट कही है कि भक्तों के हेतु ही भगवान् नर रूप में अवतीर्ण होकर विचित्र लीलाएँ करते हैं ।[3]

---

1. मानस - बालकाण्ड - 121
2. भूभारक्षेपदंभात् पदकमलजुषां मोक्षणायावतीर्णः । नारायणीय 89.10
3. व्यापक अकल अनीह अज निर्गुन नाम न रूप
भगत हेतु नाना बिधि करत चरित्र अनूप ।। मानस -बालकाण्ड - 205

तुलसीदास के राम

तुलसीदास ईश्वर के निर्गुण और सगुण दोनों रूपों पर विश्वास करते हैं । उनके अनुसार निर्गुण और सगुण में कोई भेद नहीं है । उन्होंने राम को कहीं कहीं तो अनादि ब्रह्म माना है और कहीं कहीं उन्हें हरि या विष्णु का अवतार माना है । तुलसी ने कहीं कहीं ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन सबको राम से पृथक तथा उनके सेवक माने हैं । जैसा कि पहले बताया गया है, तुलसीदास दशावतार को भी मानते हैं ।

निम्नांकित स्थलों में तुलसी ने राम को परब्रह्म रूप में स्वीकार किया है :-

एक अनीह अरूप अनामा । अज सच्चिदानन्द पर धामा ।।
व्यापक बिस्व रूप भगवाना । तेहि धरि देह चरित कृत नाना ।।[1]

× × × × ×

व्यापकु एकु ब्रह्म अविनासी । सत चेतन घन आनंद रासी ।।[2]

× × × × ×

राम ब्रह्म व्यापक जग नाना । परमानन्द परेस पुराना ।।
पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि परावर नाथ ।
रघुकुलमनि मम स्वामि सोई कहि सिवँ नायउ माथ ।।[3]

× × × × ×

व्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद ।

---

1. मानस - बालकाण्ड - 13.2
2. वही - बालकाण्ड - 23.3
3. वही - बालकाण्ड - 116

सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद ।।[1]

× × × ×

राम ब्रह्म परमारथ रूपा । अबिगत अलख अनादि अनूपा ।।
सकल बिकार रहित गत भेदा । कहि नित नेति निरूपहिं बेदा ।।
भगत भूमि भूसुर सुरभि सुर हित लागि कृपाल ।
करत चरित धरि मनुज तनु सुनत मिटहिं जग जाल ।।[2]

× × × × × ×

निर्गुण सगुण विषममसमरूपं । ज्ञानगिरागोतीतमनूपं ।
अमलमखिलमनवद्यमपारं । नौमि राम भंजन महिभारं ।।[3]

× × × × ×

तात राम कहुँ नर जनि मानहु । निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु ।।[4]

× × × × × ×

सोइ सच्चिदानन्द घन रामा । अज विग्यान रूप बल धामा ।[5]

× × × × ×

प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी । ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी ।[6]

---

1. मानस - बालकाण्ड - 198
2. वही - अयोध्याकाण्ड - 93
3. वही - अरण्य - 11.6
4. वही - किष्किन्धा - 26.6
5. वही - उत्तरकाण्ड - 72.3
6. वही - उत्तरकाण्ड - 72.4

इसी प्रकार कहीं कहीं प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में राम को विष्णु का अवतार भी माना गया है । सर्वप्रथम पार्वती के पूछने पर शिवजी ने राम-अवतार के पाँच कारण बतलाए हैं । तीन कल्पों में विष्णु का राम-अवतार-ग्रहण इस प्रसंग में बताया गया है । एक कल्प में कश्यप और अदिति दशरथ और कौसल्या बने और भगवान् विष्णु ने इन के पुत्र के रूप में राम अवतार ग्रहण किया ।[1] एक दूसरे कल्प में जलंधर नामक असुर की पत्नी के शाप से भगवान् को नर रूप धारण करना पडा ।[2] एक कल्प में नारद के शाप के कारण भगवान् को अवतार ग्रहण करना पडा ।[3] राम को स्पष्ट रूप से विष्णु का अवतार घोषित करनेवाली -

तेहि अवसर भंजन महि भारा । हरि रघुबंस लीन्ह अवतारा ।
पिता वचन तजि राजु उदासी । दंडक वन बिचरत अबिनासी ।।[4]

जैसी पंक्तियाँ मानस में यत्र-तत्र मिलती हैं ।

इससे भिन्न, तुलसी ने राम को अवतारी रूप में भी चित्रित किया है ।[5] रावण वध के बाद देवताओं की रामस्तुति में यह बात आई है ।

---

1. कस्यप अदिति तहाँ पितु माता । दसरथ कौसल्या बिख्याता ।।
   एक कल्प एहि बिधि अवतारा । चरित पवित्र किए संसारा ।।
   मानस - बालकाण्ड - 123.2
2. तासु श्राप हरि कीन्हि प्रमाना । कौतुक निधि कृपाल भगवाना ।।
   तहाँ जलंधर रावन भयऊ । रन हतिराम परम पद दयऊ ।। मानस. बाल. 124.1
3. नारद श्राप दीन्ह एक बारा । कलप एक तेहि लगि अवतारा ।। वही. बाल.124
4. वही - बालकाण्ड - 48.7
5. मीन कमठ सूकर नरहरी । बामन परसुराम बपु धरी ।।
   जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो । नाना तनु धरि तुम्हइँ नसायो ।।
   वही - लंका - 110.4

जयदेव कवि ने अपने गीत-गोविन्द में श्रीकृष्ण को इसी प्रकार अवतारी मानकर उनके दस अवतार गिने हैं ।[1] इसमें परंपरागत दशावतार से कृष्ण को हटाकर उनके स्थान पर बुद्ध को रखा गया है । यह भक्ति के संदर्भ में बिलकुल मान्य भी है । इष्टदेव को सबसे ऊँचा मानने पर ही उनमें ऐकान्तिक एवं अनन्य निष्ठा हो सकती है । तुलसी ने भी इसी कारण राम को स्वयं अवतारी माना और अन्य सब अवतारों को राम का ही अवतार गिना । रामचरितमानस के राम और विष्णु के संबंध में यही निष्कर्ष है कि मानस में विष्णु राम का ही एक दूसरा रूप है । सुतीक्ष्ण की भक्ति के प्रसंग में यह बात और भी स्पष्ट रूप से प्रकट हुई है -

भूप रूप तब राम दुरावा । हृदयँ चतुर्भुज रूप देखावा ।।[2]

इसका तात्पर्य है कि यह चतुर्भुज विष्णु रूप भी राम का ही एक रूप है ।

तुलसी के राम - सगुण रूप - सौंदर्य, शक्ति एवं शील

भक्तिशास्त्र में भगवान् के सगुण रूप का वर्णन करते हुए उसकी कुछ विशेषताएँ बताई गई है । ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, ज्ञान, और वैराग्य की समग्रता जिनमें हैं, वही भगवान् है ।[3] श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कंध में

---

1. वेदानुद्धरते जगन्निवहते भूगोलमुद्बिभ्रते
   दैत्यं नाशयते बलिं छलयते क्षत्रक्षयं कुर्वते ।
   पौलस्त्यं जयते हलं कलयते कारुण्यमातन्वते
   म्लेच्छान् मूर्छयते दशाकृतिकृते कृष्णाय तुभ्यं नमः ।। गीत गोविन्द पद । श्लो.।
2. मानस - अरण्य - 9.9
3. विष्णुसहस्रनाम श्लोक 73 पर शंकर भाष्य ।

भगवान् के विशेष गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन हुआ है ।[1] भक्तिरसामृतसिंधु में रूप गोस्वामी ने भगवान् के गुणों का वर्णन करते हुए सबसे पहले उनके सौंदर्य, शील और शक्ति का ही उल्लेख किया है ।[2]

मानस के भगवान् राम भी अपूर्व सौंदर्य, शक्ति एवं शील के संगम हैं । भक्त अपनी अभिरुचि एवं प्रवृत्ति के अनुरूप उनके भिन्न भिन्न रूपों की उपासना किया करते हैं । वास्तव में वे वज्र से भी कठोर और फूल से भी कोमल है ।[3] अत्याचारियों के दमन में उनके रौद्र और शरणागतों पर कृपा प्रदर्शन में उनके कोमल रूप के दर्शन होते हैं ।

सौंदर्य

मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् राम अनन्त सौंदर्य संपन्न हैं । करोडों कामदेवों को लज्जित करनेवाले उनके असाधारण एवं अनन्त रूपसौंदर्य का अवलोकन कर सब मुग्ध होते हैं । उनकी रूप माधुरी का तुलसी पर इतना प्रभाव पडा है कि अनेक बार उसकी अभिव्यक्ति करते हुए भी उनको पुनरुक्ति

---

1. भागवत - 1.16. 25-28
2. अयं नेता सुरम्यांगः सर्वसल्लक्षणान्वितः ।
   रुचिरस्तेजसायुक्तो बलीयान् वयसान्वितः ।। भ. र. सिं. 2.1.19,20
3. कुलिसहु चाहि कठोर अति कोमल कुसुमहु चाहि ।
   चित्त खगेस राम कर समुझि परइ कहु काहि ।। मानस. उत्तर. 19(ग)

का भान तक नहीं होता । मानस के सभी भक्त राम के दर्शन कर आत्मसुधि खो देते हैं और गद्गद् हो जाते हैं ।[1] राम के अनुपम सौंदर्य का आकर्षण इतना अधिक है कि वैरागी जनक सहित जनकपुरवासी[2] वन मार्ग के ग्रामीण नर नारी[3], कोल-भील, पशु-पक्षी, सज्जन-दुर्जन, ऋषि-मुनि, देवता सभी बरबस वशीभूत हो जाते हैं । राम सचमुच "विश्वचितचोरा" हैं । जनक पुर की पुष्पवाटिका में भगवान् राम ने अपने भाई लक्ष्मण सहित लता कुंज से प्रकट होकर सीता की सखियों को जिस सौंदर्य का साक्षात्कार कराया वह ऐसा विलक्षण एवं अपूर्व था कि सखियाँ अपने आप को भूल जाती हैं । उनमें से एक ने पार्वती की पूजा में ध्यानस्थ सीता के हाथों को झकझोर कर उन्हें उस सौंदर्य को देखने के लिए

---

1. पुलकित तन मुख आव न बचना । देखत रुचिर बेष कै रचना ।। मानस.
   × × × किष्किंधा 2.3
   बहुरि राम छबि धाम बिलोकी । रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी ।।
   वही - सुन्दर - 45.2
2. सहज बिराग रूप मनु मोरा । थकित होत जिमि चंद चकोरा ।।
   × × × ×
   देखन नगर भूप सुत आए । समाचार पुर बासिन्ह पाए ।।
   धाए धाम काम सब त्यागी । मनहुँ रंक निधि लूटन लागी ।।
   निरखि सहज सुन्दर दोउ भाई । होहि सुखी लोचन फल पाई ।।
   वही - बालकाण्ड 216.2, 220.1, 2.
3. सुनत तीरबासी नर नारी । धाए निज निज काज बिसारी ।।
   लखन राम सिय सुन्दरताई । देखि करहिं निज भाग्य बडाई ।।
   वही - अयोध्याकाण्ड - 110.1

विवश किया ।[1] इससे सिद्ध है कि राम का रूप ऐसा अपूर्व है कि उसे स्वयं तो लोग देख लेते हैं, दूसरों को भी दिखाकर नेत्रों का लाभ लेने की प्रेरणा देते हैं ।[2]

शक्ति

तुलसी ने राम के अनुपम सौंदर्य के साथ उनकी अद्वितीय शक्ति का भी उद्घाटन किया है । उनकी शक्ति के लवलेश से तीनों लोकों के चराचर पर विजय प्राप्त की जा सकती है ।[3] राम ने रावण और बालि का वध किया जो उनके समय के सबसे बडे बलवान् व्यक्ति थे । सीता-स्वयंवर में अप्रतिम वीर परशुराम का भी मान-मर्दन कर उन्हें तपस्या के लिए जंगल का रास्ता दिखाया । ये सारे कार्य राम की अतुलित शक्ति और अपूर्व वीरता की पराकाष्ठा के ही परिचायक हैं । उनके बाण खींचते ही समुद्र के हृदय में ज्वाला उठने लगती थी ।[4]

---

1. धरि धीरज एक आलि सयानी । सीता सन बोली गहि पानी ।।
   बहुर गौरि कर ध्यान करेहू । भूप किसोर देखि किन लेहू ।।
   मानस - बालकाण्ड - 234.1
2. एकन्ह एक बोलि सिख देही । लोचन लाहु लेहु छन एहीं ।।
   वही - अयोध्याकाण्ड - 114.3
3. जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि ।
   तासु दूत मैं जा करि करि आनेहु प्रिय नारि ।। वही - सुन्दर. 21
4. संधानेउ प्रभु बिसिख कराला । उठी उदधि उर अंतर ज्वाला ।।
   मानस - सुन्दर - 58.3

वे अपनी शक्ति से सब को नचाते रहते हैं ।[1] उनमें अनन्त कोटि दुर्गाओं के समान शत्रुओं के संहार की शक्ति विद्यमान है ।[2] राम ने अपनी अपूर्व शक्ति से ताटका, खर-दूषण, कुंभकर्ण, मारीच आदि अत्याचारियों का भी वध किया । रावण और मारीच जैसे राक्षसों ने उनकी अतुलित शक्ति से ही उनको परब्रह्म-रूप में पहचाना था ।[3]

शील

तुलसी ने राम के शील का ऐसा मार्मिक अंकन किया है कि भक्तों का हृदय स्वत: उनकी ओर आकृष्ट हो जाता है । उनके मनोहर शील-स्वरूप को देखकर, उसका अनुभव कर मनुष्य अपनी वृत्तियों को भी उसी के मेल में ले चलने के लिए प्रयत्नशील हो जाता है । राम की सरलता और सुशीलता के अनुभव से दुष्ट-वृत्तिवालों की कुटिलता एवं दुष्टता धीरे धीरे दूर होने लगती हैं और इस तरह वह भक्ति का अधिकारी बनता चलता है । राम के सुन्दर शील का वर्णन तुलसी ने अनेक स्थानों पर किया है । अयोध्या के नागरिकों के साथ भरत को चित्रकूट में आते देखकर उनके प्रति लक्ष्मण के हृदय में बहुत तरह की कल्पित आशंकाएँ एवं सन्देह होने लगते हैं,[4] पर राम के निर्मल

---

1. सबहि नचावत राम गोसाई । मानस - किष्किंधा - 11.3
2. दुर्गा कोटि अमित अरि मर्दन । वही - उत्तर - 91.4
3. मानस - अरण्य - 23.1-2, 25.2-3
4. कुटिल कुबंधु कुअवसर ताकी । जानि राम बनबास एकाकी ।।
   करि कुमंत्र मन साजि समाजू । आए करै अकंटक राजू ।।
   कोटि प्रकार कलपि कुटिलाई । आए दल बटोरि दोउ भाई ।।
   मानस - अयोध्या - 228.2,3.

मन में आशंका एवं सन्देह के लिए कोई अवकाश नहीं है । उन्हें अपने शील के बल पर दूसरे के शील पर पूरा भरोसा है । अपने साथ अनिष्ट करनेवालों के प्रति भी राम का शील प्रदर्शन नहीं रुकता । अपने कुकृत्यों से खिन्न कैकेयी को राम यही समझाते हैं कि जो कुछ घटनाएँ घटित हुईं, वे सब विधाता के विधान के अनुसार हैं । उनमें कैकेयी का कोई अपराध नहीं है ।[1] जिस महापराक्रमी राम के शर-संधान के उपक्रम से ही समुद्र में भयंकर ज्वाला उत्पन्न होने लगी, वही महा सुशील राम पहले लगातार तीन दिनों तक "जड" जलधि से अनुनय-विनय करते रहे । किष्किंधाधिपति वानर-राज बालि और लंकापति राक्षस-राज रावण का वध करके उन्होंने राज्य अपना नहीं लिया, बल्कि उन्हीं के उत्तराधिकारी भाइयों को दिया । वस्तुतः राम के शील-स्वभाव के बारे में सोचकर ही भक्त उनके पास तक पहुँचने का प्रयास करता है । जब जीव को प्रतिदिन किए जानेवाले अपने असंख्य अपराधों की स्मृति होती है, तब भक्ति मार्ग में उसके पैर लडखडाने लगते हैं । लेकिन जब उसे शील-निधान भगवान् के उदार स्वभाव का स्मरण हो आता है तब उसके पैर तेजी से बढने लगते हैं ।[2] अपने इष्ट भगवान् के शील का वर्णन करते तुलसी कभी तृप्त नहीं होते ।

तुलसी के राम का महत्व

मानस में वर्णित राम ने अपने सौंदर्य शक्ति एवं शील के कारण जन जन के जीवन पर अखण्ड आधिपत्य स्थापित कर लिया है । कदाचित्

---

1. भेटीं रघुबर मातु सब करि प्रबोध परितोषु ।
   अंब ईस आधीन जगु काउ न देइअ दोषु ।। मानस - अयोध्या - 224.
2. जब समुझत रघुनाथ सुभाऊ । तब पथ परत उताइल पाऊ ।।
   वही - अयोध्या - 234.3

इसीलिए हिन्दी साहित्य के अद्वितीय आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपना यह उद्‌गार व्यक्त किया है -"भगवान् राम का जो प्रतीक तुलसीदास जी ने लोक के सम्मुख रखा है, भक्ति का जो प्रकृत आलंबन उन्होंने खडा किया है, उसमें सौंदर्य, शक्ति और शील तीनों विभूतियों की पराकाष्ठा है । सगुणोपासना के ये तीन सोपान हैं जिन पर हृदय क्रमशः टिकता हुआ उच्चता की ओर बढता है ।"[1]

अब भक्ति का जो स्वरूप मानस में प्रस्तुत हुआ है, उसे भक्तिशास्त्र के आधार पर विवेचित किया जायेगा ।

रामचरितमानस में वर्णित भक्ति का स्वरूप

राम के प्रति भक्ति की अभिव्यंजना ही रामचरितमानस का ध्येय है । अतः इसमें भक्ति-निरूपण विशद रूप से हुआ है । बालकांड के मानस-रूपक में बताया गया है कि नाना प्रकार से भक्ति का निरूपण इस मानस सरोवर के लता-मंडप है ।[2] अपने भक्ति-निरूपण में मानसकार अवश्य ही प्राचीन भक्तिशास्त्र से प्रभावित हुआ है । मानस का "नानापुराणनिगमागमसम्मत" होना भक्ति-निरूपण के प्रसंग में भी उचित ठहरता है । वैदिक काल से ही लेकर भारत के आध्यात्मिक आचार्यों ने जीवन के परम लक्ष्य और उसकी प्राप्ति के बारे में विशद चर्चाएँ की हैं । उनके तत्संबंधी सिद्धांत शास्त्रों के रूप में प्रस्तुत हैं । इनमें भक्ति के स्वरूप के बारे में विशद चर्चा

---

1. गोस्वामी तुलसीदास - आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - पृ. 47
2. भगति निरूपन बिबिध बिधाना । छमा दया दम लता बिताना ।।
   मानस - बाल. 37.7

मिलती है । उसे रामचरितमानस में वर्णित भक्ति के स्वरूप-विश्लेषण के लिए काम में लाया जा सकता है ।

भक्ति का स्वरूप भिन्न-भिन्न शास्त्र-ग्रंथों में समझाया गया है । श्रीमद् भगवद् गीता में भक्तियोग नामक बारहवें अध्याय में भक्ति का स्वरूप बहुत स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है । अन्य अध्यायों में भी भक्ति के स्वरूप को समझानेवाली उक्तियाँ मिलती हैं । श्रीमद्भागवत पुराण होने के कारण उसमें अनेक कथाएँ मिलती हैं और साथ ही भक्ति का स्वरूप-विश्लेषण भी मिलता है । यह भिन्न-भिन्न कथाओं के बीच में भी हुआ है और तृतीय स्कंध तथा एकादश स्कंध के कुछ उपदेशात्मक अध्यायों में अलग रूप से भी हुआ है । नारद भक्तिसूत्रों में भक्ति के स्वरूप का जो वर्णन मिलता है वह सब से व्यापक एवं स्पष्ट है । इसके "परभक्तिस्वरूपम्" और "परभक्तिलक्षणम्" नामक प्रथम दो अध्यायों में पराभक्ति के स्वरूप का सूक्ष्म विवेचन हुआ है । तीसरे अध्याय "भक्तिसाधनानि" में गौण भक्ति का स्वरूप-विवेचन हुआ है । शांडिल्य-भक्तिसूत्रों के भिन्न सूत्रों में भक्ति का स्वरूप विश्लेषण मिलता है । भक्तिरसामृतसिंधु में भी भक्ति के स्वरूप का विशद विवेचन हुआ है । पूर्व विभाग के प्रथम लहरी में भक्ति का स्वरूप सामान्यतः बताया गया है । दूसरी लहरी में साधनाभक्ति का तीसरी में भावभक्ति का तथा चौथी में प्रेमाभक्ति का स्वरूप-वर्णन मिलता है । शास्त्र-ग्रंथों में प्रतिपादित इन विवेचनों से रामचरितमानस में वर्णित भक्ति के स्वरूप विश्लेषण में बडी सहायता मिलती है । अतः इन ग्रंथों में भिन्न-भिन्न दृष्टियों से भक्ति का जो स्वरूप निर्दिष्ट किया गया है, उसके आधार पर यहाँ मानस में वर्णित भक्ति का स्वरूप विश्लेषित किया जायेगा ।

भक्ति अनिर्वचनीय है

यह नि:शंक होकर कहा जा सकता है कि भक्ति अनिर्वचनीय है । उसका केवल अनुभव ही हो सकता है । नारद भक्तिसूत्रों के चतुर्थ अध्याय में यह बात कही गई है ।[1] जिस प्रकार वाणी से ब्रह्म का वर्णन असंभव है, वेद "नेति-नेति" कहकर चुप हो जाते हैं, इसी प्रकार प्रेम का वर्णन भी वाणी द्वारा संभव नहीं हो सकता है ।[2] यहाँ प्रेम से मतलब ईश्वर के प्रति दिखाये जानेवाले प्रेम-भक्ति से है । इसलिए भक्तिसूत्रकार सब से पहले बता देते हैं कि प्रेमस्वरूप भक्ति का सम्यक् वर्णन असंभव है ।[3] इसका कारण यह है कि भक्ति सूक्ष्म आन्तरिक अनुभूति है । भागवत में यों तो भक्ति के स्वरूप का सूक्ष्म वर्णन स्थान स्थान पर मिलता है, फिर भी भागवतकार भक्ति का वर्णन करते हुए कुछ कुछ कठिनाई महसूस कर रहे हैं । ध्रुवकुमार को वर प्रदान करने के लिए जब भगवान् उनके सम्मुख आविर्भूत हुए तब उनकी स्थिति बडी विचित्र बन जाती है । उस भक्ति पूर्ण अवस्था का वर्णन करते समय भागवतकार भी भक्ति को अवर्णनीय

---

1. अनिर्वचनीयं प्रेमस्वरूपम् । नारद भक्तिसूत्र - 51
2. प्रेम-दर्शन - श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार - पृ. 90
3. The author of the aphorisms first of all points out that it is impossible for any one to give an adequate accouht of this devotion..... an inner experience of this difies all analysis and discription.
   Aphorisms on the Gospel of Divine Love - Swami Tyageesanand P.199

अनुभव करते हैं ।[1] मानस में तो इस बात को स्वयं राम ने ही स्वीकार किया है । लंका में स्थित जगज्जननी सीता को राम संदेश देते हैं जिसमें वे कहते हैं कि मेरे और तेरे प्रेम का तत्व एक मेरा मन ही जानता है ।[2] अतएव प्रेम का जो कुछ भी वर्णन मिलता है वह केवल सांकेतिक मात्र है, बाह्य है ।

यह प्रेमस्वरूपा भक्ति किसी-न-किसी पात्र में प्रकट होती है ।[3] इससे भक्ति का स्वरूप निर्णीत किया जा सकता है । भक्त के भाव, विचार एवं आचरण से भक्ति का स्वरूप किंचित् स्पष्ट हो जाता है । भक्त के आचरण उनकी अनुभूतियों का बाह्य प्राकट्य है । अतः वे भक्ति का स्वरूप समझने में सहायक होते हैं । भक्तों के लक्षण से ही भक्ति का स्वरूप समझा जा सकता है । इसीलिए श्रीमद् भागवद्गीता के बारहवें अध्याय भक्तियोग के अंतिम आठ श्लोक भक्त के लक्षणों के बारे में हैं ।

भक्त की अनुभूति की विशेषताएँ

भक्त की अनुभूति के बारे में कहा गया है कि वह त्रिगुणों और कामनाओं से रहित, पल-पल में वर्धमान, अविच्छिन्न एवं सूक्ष्म है ।[4] भक्ति सूक्ष्म अनुभव है । इसे प्राप्त कर भक्त की अवस्था किसी मधुर पदार्थ

---

1. भागवत - 4.9.3,4
2. तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा । जानत प्रिया एकु मन मोरा ।। मानस - सुन्दर - 15-3.
3. प्रकाशते क्वापि पात्रे । ना.भ.सू. 53
4. गुणरहितं कामनारहितं प्रतिक्षणवर्धमानं
   अविच्छिन्नं सूक्ष्मतरं अनुभव रूपम् । ना.भ.सू. 54

खानेवाले गूँगे की अवस्था के समान हो जाती है ।[1] जैसे गूँगा गुड खाकर प्रसन्न होता है, हँसता है, परंतु गुड का स्वाद नहीं बता सकता, इसी प्रकार प्रेमी महात्मा प्रेम का अनुभव कर आनन्द में निमग्न हो जाता है, परंतु अपने उस अनुभव का स्वरूप दूसरे किसी को भी बता नहीं सकता । श्रीमद् भागवत में इस अवस्था का मनोरम वर्णन इस प्रकार मिलता है :

क्वचिद्रुदन्त्यच्युतचिन्तया क्वचिद्
हसन्ति नन्दन्ति वदन्त्यलौकिकाः ।
नृत्यन्ति गायन्त्यनुशीलयन्त्यजं
भवन्ति तूष्णीं परमेत्य निर्वृताः ।।[2]

अर्थात् भक्त कभी कभी भगवान् की स्मृति में रोने लगते हैं, कभी-कभी हँसने लगते हैं, कभी कभी अलौकिक बातें बकते हैं, कभी कभी गाते और नाचते हैं और कभी कभी भगवान् की लीलाओं का अनुशीलन करते हैं । इस प्रकार वे सदा आनन्दित रहते हैं । परम निर्वृति में कभी कभी वे मूक हो जाते हैं । रामचरित मानस के सुतीक्ष्ण जैसे भक्तों की स्थिति बिलकुल इसी प्रकार की है । भक्ति की बाढ में वे अपने आप को भूल जाते हैं और भगवान् के दिव्य नामों का उच्चारण करते हुए नाचने लगते हैं ।[3] मानस में उनकी स्थिति अवर्णनीय

---

1. मूकास्वादनवत् । ना.भ.सू. 52
2. भागवत - 11.3.32
3. अबिरल प्रेम भगति मुनि पाई । प्रभु देखैं तरु ओट लुकाई ।।
   अतिसय प्रीति देखि रघुबीरा । प्रगटे हृदयँ हरन भव भीरा ।।
   मुनि मग माझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ।।
   तब रघुनाथ निकट चलि आए । देखि दसा निज जन मन भाए ।।
   मानस - अरण्य - 10.7,8

दिखाई गयी हैं । इससे सिद्ध होता है कि भक्तों के आचरण एवं भाव ही मुख्य रूप से भक्ति का स्वरूप निर्दिष्ट करता है ।

भक्ति प्रेमस्वरूपा है

नारद भक्तिसूत्रों के दूसरे ही सूत्र में बताया गया है कि भक्ति भगवान् में परम प्रेम रूप है ।[1] भक्ति साधारण प्रेम नहीं, परम प्रेम हैं । "परम" विशेषण का प्रयोग इस दृष्टि से किया गया है कि यह प्रेम लौकिक नहीं है । यह प्रेम "व्यावहारिक" प्रेम नहीं "पारमार्थिक" प्रेम है । शांडिल्य ने भी भक्ति की परिभाषा में इस बात को रेखांकित किया है । उनके अनुसार भक्ति ईश्वर में परानुरक्ति है ।[2] यहाँ भी अनुरक्ति "परा" है, अर्थात् अलौकिक है । नारद भक्तिसूत्रों में भक्तिसाधनानि नामक अध्याय में बताया गया है कि शुद्ध और अविच्छिन्न अनुराग लाभ से भक्ति की प्राप्ति होती है ।[3] शाण्डिल्य के द्वारा प्रयुक्त "अनुरक्ति" और नारद का "अनुराग" शब्द बिलकुल समानार्थक हैं । अनुराग और अनुरक्ति शब्दों में क्रमशः "राग" और "रक्ति" के पहले "अनु" उपसर्ग है । इससे प्रेम का नैरन्तर्य समझाया गया है ।[4] भक्ति में इस नैरन्तर्य का अत्यधिक महत्व है । प्रेम अखण्ड होना परम आवश्यक है । श्रीमद्भागवत में इस बात का सुन्दर वर्णन इस प्रकार हुआ है :

---

1. सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा । ना.भ.सू. 2
2. सा परानुरक्तिरीश्वरे । शा. सू. 2
3. यो वेदानपि संन्यसति केवलमविच्छिन्नानुरागं लभते । ना.भ.सू.49
4. Raga means attachment, 'anu' is 'constant, Continuous'. Narad Bhakti Sutras _ Swami Chinmayananda - P.97

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोंऽबुधौ ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
अहैतुक्याव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।[1]

अर्थात् जिस प्रकार गंगा का प्रवाह अखंड रूप से समुद्र की ओर बहता रहता है, उसी प्रकार मेरे गुणों के श्रवण मात्र से मन की गति का तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से मुझ सर्वान्तर्यामी के प्रति हो जाना तथा मुझ पुरुषोत्तम में निष्काम और अनन्य प्रेम होना - यह निर्गुण भक्तियोग का लक्षण है ।

रूपगोस्वामी ने भक्तिरसामृतसिंधु में भक्ति के जो भिन्न भिन्न भेद बताए हैं, उनमें प्रेमाभक्ति को उच्चतर माना है । उन्होंने प्रेम का भी स्वरूप व्यक्त किया है ।[2] इस प्रकार भक्ति का स्वरूप निरन्तर प्रेममय सिद्ध होता है । नारद ने इस प्रेम को मोटे तौर पर दो रूपों में देखा है - नित्यदास का प्रेम और नित्यकान्ता का प्रेम ।[3] एक सच्चा सेवक सनातन सेवक है और वास्तविक प्रेयसी आजीवन प्रेयसी है ।[4] श्रीमद्भागवत में भक्त सुदामा को यह प्रार्थना करते हुए दिखाया गया है कि मुझे सभी जन्मों में भगवान् का सखा

---

1. भागवत - 3.29.11,12
2. सम्यङ्मसृणितस्वान्तो ममत्वातिशयांकितः ।
   भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमो निगद्यते ।। भ.र.सिं. 1.4.1
3. त्रिरूप भंगपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मके प्रेम कार्यं प्रेमैव कार्यम् ।
   ना.भ.सू. 66
4. A true Servant is a servant for all the time and a true wife a wife for all the time. Aphorisms on the Gospel of Divine Love - Swami Tyageeshananda - P.216

बनने का सौभाग्य प्राप्त हो ।[1] यह नित्य सखा का प्रेम है ।

रामचरितमानस में भी प्रेम के दास, कान्ता, सखा आदि रूपों को अत्यधिक महत्व दिया गया है । मानस में प्रेम को ही भक्ति का सार तत्व माना गया है । श्रीरामचन्द्र में परम प्रेम रखनेवाले भरत, लक्ष्मण, हनुमान, सीता, गुह आदि पात्रों में मानस की भक्ति का स्वरूप प्रकट होता है । दास्यभाव भरत, लक्ष्मण एवं हनुमान में पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ है । राम के प्रति सीता का प्रेम लौकिक पति प्रेम के रूप में वर्णित होने पर भी ईश्वरोन्मुख होने के कारण वह भक्ति की कोटि का है । सीता के मन में प्रथम अनुराग का अंकुर जनक की पुष्पवाटिका में हुआ था । उस प्रसंग में सीता की दशा कवि के शब्दों में इस प्रकार है -

लोचन मग रामहिं उर आनी । दीन्हे पलक कपाट सयानी ।।
जब सिय सखिन्ह प्रेम बस जानी । कहि न सकहिं कछु मन सकुचानी ।।[2]

नारद भक्तिसूत्रों में भक्ति के आदर्श के रूप में व्रज की गोपिकाओं का उदाहरण प्रस्तुत हुआ है । उनकी भक्ति कान्ता भाव की है । मानस में इनकी समानता रखनेवाला पात्र सीता है । सीता का प्रेम कान्ता भाव का है । उसमें मर्यादा का किंचित् भी उल्लंघन नहीं हुआ है । तुलसीदास ने राम को सीता का "निजनिधि" बताया है । राम को पहली बार देखकर सीता के नेत्र ललचा उठे, वे ऐसे प्रसन्न हुए मानो उन्होंने अपना खजाना पहचान लिया ।[3] उसके बाद सीता का मन निरंतर राम में लगा रहता है । जब

---

1. तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री
   दास्यं पुनर्जन्मनि जन्मानि स्यात् । भागवत - 10.81.36
2. मानस - बालकाण्ड - 232.4
3. देखि रूप लोचन ललचाने । हरषे जनु निज निधि पहचाने ।। मानस-बाल. 232.2

रावण उनको अपहृत करके अशोकवाटिका में बन्दिनी बना लेती है तब वे अहर्निश राम के ध्यान में मग्न होकर उनका नाम रटती रहती हैं ।[1] रावण के असंख्य प्रलोभनों एवं आतंकों क बावजूद वे राम-प्रेम-पथ से विचलित नहीं होती हैं ।

परम प्रेमारूपा भक्ति का स्वरूप हनुमान में भी सम्यक् प्रकट हुआ है । मानस में सीता से मिलकर वापस आए हुए हनुमान को राम के प्रेम में विवश दिखाया गया है :

सुनि प्रभु बचन बिलोकि मुख गात हरषि हनुमंत ।
चरन परेउ प्रेमाकुल त्राहि त्राहि भगवंत ।।
बार बार प्रभु चहइ उठावा । प्रेम मगन तेहि उठब न भावा ।।
प्रभु कर पंकज कपि के सीसा । सुमिरि सो दसा मगन गौरीसा ।।[2]

भरत की प्रेममग्न अवस्था के वर्णन से अयोध्याकाण्ड का अधिकांश भाग भरा पडा है । राम-वनगमन की बात जानकर भरत राम को लौटाने का निर्णय लेते हैं । अंत में राम की पादुकाएँ प्राप्त करने में वे सफल निकलते हैं । इन दोनों घटनाओं के बीच की सब घटनायें भरत का अनन्य प्रेम व्यक्त करनेवाली हैं । भरत के वचनों के बारे में कहा गया है कि मानो वे श्रीराम के प्रेमरूपी अमृत में पगे हुए थे ।[3] राम से मिलने के लिए यात्रा करते वक्त राम से संबंधित स्थानों में उनकी मनोदशा, निषादराज गुह से उनकी

---

1. नाम पहारू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट । मानस.सुन्दर - 30
2. वही - सुन्दर - 32, 33.1
3. भरत वचन सब कहँ प्रिय लागे । राम सनेह सुधाँ जनु पागे ।।
मानस - अयोध्या- 184.1

बातचीत, राम से उनकी बातचीत आदि में उनका प्रेम अभिव्यक्त हुआ है । जनक-सुनयना संवाद में आया है कि भरत ने स्वप्न में भी परमार्थ, स्वार्थ और सुखों की ओर नहीं ताका है । श्रीराम के चरणों में प्रेम ही उनका साधन है और वही उनकी सिद्धि भी है ।[1]

अरण्यकाण्ड के प्रारंभ में अगस्त्य शिष्य सुतीक्ष्ण का जो चरित्र वर्णित है, उसमें भी भक्ति को परमप्रेमरूपा सिद्ध किया गया है । राम के आगमन की खबर पाकर सुतीक्ष्ण भाव-विभोर हो जाते हैं । वे मन में अनेक प्रकार के विचार करते हुए राम से मिलने जाते हैं । मानस में सुन्दर ढंग से प्रस्तुत ये विचार परमप्रेम की सहज अभिव्यक्ति है :

होइ हैं सुफल आजु मम लोचन । देखि बदन पंकज भव मोचन ।।
निर्भर प्रेम मगन मुनि ग्यानी । कहि न जाइ सो दसा भवानी ।।[2]

भक्ति में अनन्यता है

परमप्रेमरूपा भक्ति की यह विशेषता है कि उसमें भगवान् के प्रति एकनिष्ठ प्रेम होता है । प्रेम की गली अत्यन्त सांकरी है, इसमें एक व्यक्ति के लिए ही जगह है ।[3] नारद भक्तिसूत्रों में इस अनन्यता पर बहुत ज़ोर दिया गया है । "भक्तिलक्षणम्" नामक चतुर्थ अध्याय में भक्ति की प्राप्ति के बाद की स्थिति यों वर्णित है :

---

1. परमारथ स्वास्थ सुख सारे । भरत न सपनेहुँ मनहुँ निहारे ।।
   साधन सिद्धि राम पग नेहू । मोहि लखि परत मत एहू ।। मानस-अयो. 289.47
2. मानस - अरण्य - 10.5
3. प्रेमगली अति सांकरी ता में दो न समाहिं । कबीर वचनावली - पृ. 102

तत् प्राप्य तदेवावलोकयति तदेव शृणोति तदेव भाषयति तदेव चिन्तयति ।[1]

अर्थात् उस परमप्रेमरूपा भक्ति को प्राप्त कर भक्त सब जगह उसी को देखता है, उसी के बारे में सुनता है, उसी के बारे में बोलता है, और उसी का चिंतन करता है । उपनिषद् का भूमानन्द इसी स्थिति से समानता रखनेवाला है । छान्दोग्योपनिषद में बताया गया है कि जहाँ दूसरे को नहीं देखता, दूसरे को नहीं सुनता, दूसरे को नहीं जानता वही भूमा है । और जहाँ दूसरे को देखता है, दूसरे को सुनता है, दूसरे को जानता है वह अल्प है । जो भूमा है वह अमृत है और जो अल्प है वह मरा हुआ है ।[2]

भक्ति की उच्चतम अवस्था में समस्त अंग केवल उसी भगवान् का अनुभव करते हैं । संपूर्ण इन्द्रियाँ उसी को विषय करती हैं । जीवन भगवत्प्रेममय बन जाता है और सारी इन्द्रियाँ भक्ति से प्रेरित होकर भगवदुन्मुख बन जाती हैं । इसी अनन्य निष्ठा को मन में रखते हुए भक्त शिरोमणि बिल्वमंगल ने प्रार्थनी की कि मेरी सारी इन्द्रियाँ भगवान् में लग जायें ।[3]

---

1. ना. भ. सू. 55
2. यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यत् विजानाति स भूमाथ, यत्र अन्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्, यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम् । - छान्दोग्योपनिषद् 7.24.।
3. जननान्तरेऽपि जगदेकमंडने
   कमनीयधाम्नि कमलायतेक्षणे ।
   व्रजसुन्दरीजनविलोचनामृते
   चपलानि सन्तु सकलेन्द्रियाणि मे ।। श्रीकृष्णकर्णामृतम् - 3.39

सुप्रसिद्ध आलवार सन्त कुलशेखर ने भी अपनी सारी इन्द्रियों से भगवान् में लग जाने की प्रार्थना की है ।[1]

श्रीमद्भागवत में इस प्रकार की अनन्यता के अनेक उदाहरण दिये गये हैं । नवम स्कन्ध में आदर्श भक्त के रूप में अंबरीष का चित्र खींचते हुए भागवतकार ने अनन्यता पर यथेष्ट प्रकाश डाला है । अंबरीष की भक्ति के बारे में वे कहते हैं: "उन्होंने अपने मन को भगवान् के चरणारविंदयुगलों में, वाणी को भगवद्गुणवर्णन में, हाथों को श्रीहरिमन्दिर के मार्जन-सेचन में और अपने कानों को भगवान् अच्युत की मंगलमयी कथा के श्रवण में लगा रक्खा था । उन्होंने अपने नेत्र भगवन्मूर्ति और मन्दिरों के दर्शन में, अंग-अंग भगवद्भक्तों के शरीर-स्पर्श में, नासिका उनके चरणकमलों पर चढी हुई तुलसी के दिव्यगंध में और जिह्वा भगवान् के प्रति अर्पित नैवेद्य प्रसाद में संलग्न कर दिये थे । अंबरीष के पैर भगवान् के क्षेत्र आदि की पैदल यात्रा करने में ही लगे रहते थे और वे

---

1. जिह्वे कीर्तय केशवं मुररिपुं चेतो भज श्रीधरं
   पाणिद्वन्द्व समर्चयाच्युतकथाः श्रोत्रद्वयं त्वं शृणु ।
   कृष्णं लोकय लोचनद्वय हरेर्गच्छांघ्रियुग्मालयम्
   जिघ्र घ्राण मुकुन्दपादतुलसीं मूर्धन् नमाधोक्षजम् ।।
   मुकुन्दमाला - 29

सिर से भगवान् के चरण कमलों की वन्दना किया करते । उनकी कामना भगवत्कैंकर्य की थी ।"[1]

नारदभक्तिसूत्रों में "अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता"[2] कहकर अनन्यता का भाव स्पष्ट किया गया है । भक्ति का स्वरूप विश्लेषित करते समय नारद ने भक्ति को निरोध रूप बताया ।[3] इस निरोध की व्याख्या करते हुए उन्होंने भगवान् में अनन्यता और उसके प्रतिकूल विषय में उदासीनता को निरोध कहा ।[4] इस के बाद अनन्यता की परिभाषा दी गई है कि अपने प्रियतम भगवान् को छोडकर दूसरे आश्रयों के त्याग का नाम अनन्यता है - "अन्याश्रयाणां त्यागेऽनन्यता ।" प्रेमी भक्त के मन में अपने प्रियतम भगवान् के सिवा अन्य किसी के होने की ही कल्पना नहीं होती, तब वह दूसरे का भजन कैसे करे, आश्रय कैसे ले ?

---

1. स वै मनः कृष्णपदारविन्दयोर्वचांसि वैकुंठगुणानुवर्णने ।
   करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये ।।
   मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽगसंगमम् ।
   घ्राणं च तत् पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ।।
   पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने ।
   कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ।।

   भाग 9.4 - 18-20

2. ना.भ.सू - 10
3. सा न कामयमाना निरोध रूपत्वात् । ना.भ.सू. 7
4. तस्मिन्ननन्यता तद्विरोधिषूदासीनता च । ना.भ.सू. 9

रामचरितमानस में ऐसी अनन्यता के अनेक उदाहरण हैं । भगवान् राम के प्रति अनन्य प्रेम होने पर भक्त के लिए वे ही सर्वस्व बन जाते हैं और उसे उनके अतिरिक्त लोक-परलोक में अन्य कोई महत्वपूर्ण पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता । तुलसी राम की इसी अनन्य भक्ति के आकांक्षी हैं । उनके स्वामी एवं आराध्य राम हैं और अपने राम के स्थान पर किसी अन्य देवता को प्रतिष्ठित करने के पक्ष में वे कदापि नहीं हैं । तुलसीदास की भक्ति का आदर्श ही अनन्यता की महत्ता को रेखांकित करनेवाला है । उनकी भक्ति का आदर्श चातक है । "दोहावली" के चातक संबंधी दोहों में वे बादल के प्रति चातक की अनन्य निष्ठा को प्रदर्शित करके सच्ची भक्ति के स्वरूप का सुन्दर निर्देशन करते हैं । चातक की तरह तुलसी को भी एक राम रूपी श्यामघन का ही भरोसा है, उसी का बल है, उसी की आशा है और उसी का विश्वास है ।[1] विनयपत्रिका में भी इसी भाव की पंक्तियाँ आयी हैं ।[2] चातक बादल से बरसनेवाले जलबिन्दुओं से ही अपना प्यास बुझाता है । उसे मेघ से अन्य दूसरा कोई आश्रय नहीं है । मानस में चातक की सी अनन्य निष्ठा को भक्ति का स्वरूप माना गया है । अयोध्या कांड में वाल्मीकि राम के वास के योग्य स्थानों की गिनती करते हैं । उस प्रसंग में आया है :

लोचन चातक जिन्ह करि राखे । रहहि दरस जलधर अभिलाषे ।।
निदरहिं सरित सिंधु सरभारी । रूप बिंदु जल होहिं सुखारी ।।
तिन्ह के हृदय सदन सुख दायक । बसहु बंधु सिय सह रघुनायक ।।[3]

---

1. एक भरोसे एक बल एक आस बिस्वास ।
   एक राम घनस्याम हित चातक तुलसीदास ।। दोहावली 2 77
2. तुलसी चातक आस राम स्याम घन की । विनय पत्रिका - 75
3. मानस - 2. 128. 3-4

भक्ति में अनन्यता को स्पष्ट करने के लिए मानसकार ने जल के प्रति मछली के अनन्य प्रेम को भी उदाहृत किया है ।[1]

राम के प्रति अनन्य प्रेम-निष्ठा का सबसे श्रेष्ठ उदाहरण राजा दशरथ में है । राम को वन भेजने का वर माँगे जाने पर उनकी दशा अत्यन्त करुण हो जाती है । वे एक क्षण के लिए भी राम से अलग नहीं रह सकते हैं । राम के लिए दशरथ धर्म को भी त्याग देने के लिए तैयार हो जाते हैं । वचनबद्धता की सनातन रघुकुलनीति भी छोडने के लिए वे तैयार हो जाते हैं । महादेव से दशरथ की प्रार्थना इसका प्रमाण है । वे महादेव से प्रार्थना करते हैं कि आप श्रीराम को ऐसी बुद्धि दीजिए जिससे वे मेरे वचनों को त्यागकर और शील-स्नेह को छोडकर घर में ही रह जाय ।[2] राजा दशरथ अपयश की प्राप्ति या सुयश के नाश की चिन्ता नहीं करते, नरकवास भी उन्हें भय नहीं देता । यदि राम उनकी आँखों से ओट न होता तो सब प्रकार के दुःख सहने के लिए वे तैयार हैं ।[3]

---

1. राम भगति जल मम मन मीना ।
   किमि बिलगाई मुनीस प्रबीना । मानस - उत्तर - 111.9
2. तुम्ह प्रेरक सब के हृदयँ सो मति रामहि देहु ।
   बचनु मोर तजि रहहिं घर परिहरि सीलु सनेहु ।। मानस - 2.44
3. अजसु होउ जग सुजसु नसाऊ । नरक परौं बरु सुर पुर जाऊ ।।
   सब दुख दुसह सहावहु मोही । लोचन ओट राम जनि होंही ।।
   मानस - अयोध्या - 45.10

राजा दशरथ में ही नहीं, सीता, लक्ष्मण, भरत और सारे अयोध्यावासियों में भी यह अनन्यता परिलक्षित हुई हैं । एक ही दोहे में इन सबकी अनन्य निष्ठा दिखाते हुए तुलसीदास ने लिखा है :

सीय के पिय संगु परिहरिहि लखनु कि रहहिं धाम ।
राजु कि भूँ जब भरत पुर नृप कि जिइहि बिनु राम ।।[1]

लेकिन राजा दशरथ में यह अनन्यता सर्वाधिक है कि वे पानी से अलग हुए मीन की तरह राम-वियोग में प्राण त्याग देते हैं । इसी अनन्य निष्ठा के बल पर सीता त्रिलोकपति रावण के प्रलोभनों एवं आतंकों के आगे भी सिर नहीं झुकाती हैं । लक्ष्मण छाया की तरह राम का अनुसरण करते हैं, इसी अनन्यता के कारण । भरत राज्य त्यागकर नन्दिग्राम में तापस का जीवन बिताते हैं इसी अनन्यता के कारण । इस प्रकार देखें तो मानस के सारे प्रमुख भक्तों में अनन्य भक्ति के दर्शन हमें मिलेंगे ।

भक्ति समर्पणरूपा है

भक्ति अनन्य प्रेम-रूप होने के कारण समर्पण भी भक्ति का स्वरूप बन जाता है । क्योंकि समर्पण ही अनन्य प्रेम का स्वरूप है । प्रेमी अपना सब कुछ प्रियतम के लिए समर्पित करता है । इसी में उसका प्रेम चरितार्थ हो जाता है । भक्ति में समर्पण का महत्व सभी शास्त्र ग्रंथों में रेखांकित किया गया है । श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय "भक्तियोग" में भक्तों के लक्षण

---

1. मानस -अयो.49

बताते समय भक्त को "मय्यर्पितमनोबुद्धिः" कहा गया है ।[1] उसके पहले नवम अध्याय में ही भगवान् ने अर्जुन से अपने समस्तकर्मों का ईश्वरार्पण करने की आज्ञा दी थी ।[2] श्रीमद् भागवत में भी इसी भाव के अनेक श्लोक आये हैं । एकादश स्कंध में भागवत धर्म का वर्णन करते हुए कवि नामक योगीश्वर की यह उक्ति आयी है कि शरीर, वाणी, मन, इन्द्रियाँ, बुद्धि और स्वभाव से जो जो करें वह सब परमपुरुष भगवान् नारायण के लिए ही है - इस भाव से उन्हें समर्पण करें ।[3] भक्त लोग इस समर्पण को अपने जीवन का मूलमंत्र बनाते हैं । रामानुजाचार्य के गुरु श्री यामुनाचार्य ने अपने "स्तोत्ररत्न" में इस प्रकार के समर्पण भाव की सुन्दर अभिव्यक्ति की है । "देह आदि में मैं जैसा हूँ, वैसा ही मुझे रहने दो । मैं उसी रूप में आप के चरणों में समर्पित हूँ ।"[4] यह परिपूर्ण समर्पण का सर्वोत्तम दृष्टान्त है । नारद भक्तिसूत्रों में भी इससे बिलकुल मिलने जुलनेवाली बातें आयी हैं । भक्तिसूत्रों में नारद ने समर्पण पर अत्यधिक ज़ोर दिया है ।

---

1. सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः ।
   मय्यर्पितमनोबुद्धिः यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।। गीता 12.14
2. यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
   यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ।। गीता - 9.27
3. कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वा प्रकृतेस्वभावात् ।
   करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणेति समर्पयेत्तत् ।। भाग ।।.2.36
4. वपुरादिषु योऽपि कोऽपि वा गुणतोऽसानि यथातथाविधः ।
   तदयं तव पादपद्मयोरहमद्यैव मया समर्पितः ।। स्तोत्ररत्न - 52

समर्पण-तत्व को स्पष्ट करनेवाले अनेक सूत्र इस ग्रंथ में आये हैं । प्रथम अध्याय में भक्ति के लक्षणों की मीमांसा के संदर्भ में नारद ने अपना मत व्यक्त किया है । उनकी राय में अपने सब कर्मों को भगवान् के लिए अर्पित करना और भगवान का थोडा-सा विस्मरण होने पर भी परम व्याकुलता होना ही भक्ति है ।[1] नारद ने भक्तिसूत्रों में साधक के व्यक्तित्व को सुधारने का एक सुन्दर तरीका बताया है, जिसमें भी समर्पण की प्रमुखता है । साधक को चाहिए कि वह अपने को भगवान् के लिए अर्पित करके अपने हेय मानसिक भावों को भी भगवदुन्मुख बना दे ।[2] इस प्रकार करना भावों के उदात्तीकरण में बहुत सहायक है । चैतन्य महाप्रभु जैसे भक्तों में ऐसी बात हुई भी है । चैतन्य ने शिक्षाष्टक में अपने को पूर्ण रूप से भगवदर्पण करके विरहव्यथा में भगवान् की उलाहना भी की है ।[3] भक्त अपने को समर्पित करके भगवान् के बन जाते हैं ।[4] भक्ति के भिन्न भेदों में एक आत्मनिवेदनासक्ति[5] भी है जो समर्पण के तत्व पर आधारित है ।

---

1. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परम-व्याकुलतेति च ।
   ना.भ.सू. 19
2. तदर्पिताखिलाचारः सन् कामक्रोधादिकं तस्मिन्नेव करणीयम् ।। ना.भ.सू. 65
3. आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टुमा-
   मदर्शनात् मर्महतां करोतु वा ।
   यथा तथा वा विदधातु लंपटो
   मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरो ।। शिक्षाष्टक - 8
4. यतस्तदीयाः । ना.भ.सू. - 73
5. ना.भ.सू. 82

भक्ति के लक्षण बताते समय शाण्डिल्य ने अपने भक्तिसूत्रों में भी समर्पण तत्व को बड़ी प्रमुखता दी है । शाण्डिल्य भक्तिसूत्रों में "तदीयता" और "अप्रातिकूल्य" इन दोनों शब्दों से भक्ति में आत्मसमर्पण के तत्व का उल्लेख किया गया है ।[1]

रामचरितमानस में भक्ति समर्पण रूपा मानी गयी है । समर्पण के ही दूसरे रूप शरणागति को मानसकार ने अत्यधिक महत्व दिया है । आत्मसमर्पण और समर्पित आचरण के अनेक दृष्टान्त मानस के पात्रों में मिलते हैं । आत्मसमर्पण का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण रावण के अनुज विभीषण हैं । सुन्दरकांड में रावण की सभा से प्रस्थान करके राम की शरण में आनेवाले विभीषण का अत्यन्त मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है । वे राम को "सत्यसंकल्प" मानकर उनकी शरण में जाने का अपना निर्णय बताते हैं और रावण की सभा को "कालबस" घोषित करते हैं ।[2] अपने कहे अनुसार वे श्रीराम को समर्पित होकर दण्डवत् प्रणाम करते हैं ।[3]

समर्पण का दूसरा उदाहरण भरत की भक्ति में है । वे अपने को अत्यन्त दीन हीन मानकर श्रीराम की शरण में आते हैं । अयोध्या की

---

1. शांडिल्य भक्तिसूत्र - 44
2. रामु सत्यसंकल्प प्रभु सभा कालबस तोरि ।
   मैं रघुबीर सरन अब जाउँ देहु जनि खोरि ।। मानस -सुन्दु.4।
3. श्रवन सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भव भीर ।
   त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर ।।
   अस कहि करत दंडवत देखा । तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा ।।
   मानस -सुन्दु.45, 46.।

सभा में अपने को श्रीराम के लिए समर्पित करके वे कहते हैं :

जद्यपि मैं अनभल अपराधी । मैं मोहि कारन सकल उपाधी ।।
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी । छमि सब करिहहि कृपा बिसेषी ।।[1]

यहाँ प्रभु में पूर्ण विश्वास प्रकट किया गया है, जो समर्पण का प्राण तत्व है । ईश्वरार्पित कर्मों के भी उदाहरण भरत में यथेष्ट मिलते हैं । राम-पादुकाओं की पूजा करते हुए राज्य का शासन करना कर्म-समर्पण का श्रेष्ठ उदाहरण है ।[2] लक्ष्मण के सारे आचरणों में भी समर्पण का भाव ओत-प्रोत है । लक्ष्मण का सारा जीवन श्रीराम की सेवा के लिए समर्पित था । विश्वामित्र के साथ चलते वक्त तथा वनवास के समय लक्ष्मण का आत्मसमर्पण श्रीराम की सेवा के रूप में प्रकट हुआ है ।[3] इनके अलावा निषाद राज गुह, हनूमान जैसे पात्रों के भी आचरण समर्पणपूर्वक हैं ।

भक्ति में अविस्मृति है

भक्ति के स्वरूप की चर्चा में "अविस्मृति" अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान की अधिकारिणी है । स्वामी विवेकानन्द न कहा है कि समस्त

---

1. मानस - अयोध्या - 183.2
2. नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति ।
   मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ।। मानस - अयोध्या. 325
3. चापत चरन लखनु उर लाएँ । सभय सप्रेम परम सचु पाएँ ।।
   मानस - बालकाण्ड - 226.4

शास्त्रप्रमाणों से भी ईश्वरसेवा का अर्थ ईश्वर-स्मरण है ।[1] श्रीमद्भगवद्गीता के भक्तियोग नामक बारहवें अध्याय में भगवान् ने निरन्तर स्मरण का उपदेश दिया है ।[2] श्रीमद्भागवत में भक्ति को भगवान् में "अविच्छिन्न मनोगति" कहा गया है ।[3] अविच्छिन्न मनोगति का अर्थ है निरन्तर स्मरण । नारद भक्तिसूत्रों में बताया गया है कि भगवान् की विस्मृति होने पर परमव्याकुलता होना भक्ति है - तद्विस्मरणे परम - व्याकुलता ।[4] इससे सिद्ध होता है कि परमप्रेमरूपा भक्ति में भगवान् की विस्मृति कभी नहीं होती है । साधना भक्ति के प्रसंग में भी बताया गया है कि निरन्तर भगवान् का भजन होना चाहिए ।[5] भजन में स्मरण ही मुख्य है । स्मरण के बिना किया जानेवाला कोई भी आचरण भजन की कोटि में नहीं आयेगा । अतः साधना भक्ति में भी निरन्तर स्मरण की प्रमुखता स्पष्ट है । नारद भक्ति सूत्र के चतुर्थ अध्याय में भक्ति की प्राप्ति के बाद होनेवाले निरन्तर स्मरण की बात आयी है ।[6] अन्तिम अध्याय

---

1. Service of the Lord means, according to all the Scriptural authorities, remembrance (Smarana) _ Complete works of Swami Vivekananda - Vol.V. P.318
2. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
   निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।। गीता 12.8
3. मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
   मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाभसोंऽबुधौ ।। भाग 3.29.11
4. ना.भ.सू. 19
5. अव्यावृत्त भजनात् । ना.भ.सू. 36
6. ना.भ.सू. 54

में कहा गया है कि सदा, सब भावों से भगवान् का ही भजन करना चाहिए ।[1] महाभारत के अन्त में अनुशासन पर्व में भगवान् वेदव्यास ने भी यही निष्कर्ष निकाला है कि सदा भगवान् का ध्यान करना चाहिए ।[2] इन सब से स्पष्ट है कि भगवान् का निरन्तर स्मरण साधनाभक्ति का सर्वप्रमुख अंग है और जब भक्ति सिद्ध होती है तब वह स्मरण भक्त का स्वभाव बन जाता है । संक्षेप में, भक्ति निरन्तर स्मरणरूपा है ।

स्मरण के विभिन्न प्रकार

रामचरितमानस में भक्ति का स्वरूप सर्वांगीण रूप से दिखाया गया है । भक्ति के इस परम प्रधान लक्षण - निरन्तर भगवत्स्मरण - को भी तुलसीदास ने स्पष्ट रूप से दिखाया है । तुलसी ने स्मरण के सब पक्षों पर यथायोग्य प्रकाश डाला है । स्मरण मुख्यतः दो प्रकार के हैं : नामस्मरण और रूपस्मरण । इनके अलावा भगवान् के गुण, लीलायें तथा भगवत्सेवा का भी स्मरण शास्त्रानुमोदित है ।[3] मानस में प्रमुखतया नामस्मरण, रूपस्मरण, गुणचिन्तन तथा लीलाओं का स्मरण आया है ।

नामस्मरण

नामस्मरण को भक्ति के प्रसंग में अत्यधिक महत्व है । साधना की दृष्टि से वह सर्वोत्तम साधना है । आचार्य विनोबा भावे ने

---

1. सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तैः भगवानेव भजनीयः । ना.भ.सू. 79
2. आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनः पुनः ।
   इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदा । महा.अनु. 109-10
3. ध्यानं रूपगुणक्रीडासेवादेः सुष्ठु चिन्तनम् । भक्तिरसामृतसिंधु 1.2.52

अपने गीता-प्रवचन में कहा है कि ईश्वर के किसी भी नाम में असत्य से सत्य की ओर ले चलने की शक्ति रहती है । वह पाप की ओर से निष्पाप की ओर ले जा सकता है ।[1] विनोबाजी के "साम्यसूत्र" के दो सूत्र ईश्वर नाम के बारे में है ।[2] रामचरितमानस के प्रारंभ में ही नामस्मरण की विशद मीमांसा करके तुलसीदास ने राम नाम में अपनी अडिग आस्था का परिचय दिया है । वहाँ कहा गया है कि रूपस्मरण और निर्गुण ब्रह्म चिन्तन से श्रेष्ठ नामस्मरण है । अन्तर्यामी ब्रह्म के प्राकट्य का हेतु होने के कारण नाम स्मरण अत्यन्त महत्वपूर्ण है :-

अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी । सकल जीव जग दीन दुखारी ।।
नाम निरूपन नाम जतन तें । सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ।।[3]

नाम को रूप से बडा बताते हुए तुलसीदास ने लिखा है कि रूप नाम के अधीन देखे जाते हैं ।[4] साधना के रूप नामस्मरण का महत्व यह है कि नामस्मरण से रूप अपने आप विशेष प्रेम के साथ हृदय में आ जाता है ।[5] भक्ति साधना से सिद्ध प्रेमी भक्त भी नामस्मरण की अत्यन्त लालसा रखनेवाले हैं । अध्यात्मरामायण में श्रीराम राज्याभिषेक के बाद श्रीरामचन्द्र ने हनुमान से वर माँगने को कहा तो हनुमान ने नामस्मरण का ही वर माँगा था ।

---

1. गीता प्रवचन - पृ. 241
2. नाम्ना सादृगुण्यम् ।
   तद्धि पापहारी । साम्यसूत्र 99 और 100
3. मानस - बाल. 23.4
4. देखिअहिं रूप नाम अधीना । रूप ग्यान नहिं नाम बिहीना । मानस. बाल. 21.2
5. सुमिरअ नाम रूप बिनु देखें । आवत हृदय सनेह बिसेषें । मानस. बाल. 21.3

त्वन्नाम स्मरतो राम न तृप्यति मनो मम ।
अतस्त्वन्नाम सततं स्मरन् स्थास्यामि भूतले ।।
यावत्स्थास्यति ते नाम लोके तावत्कलेवरम् ।
मम तिष्ठतु राजेन्द्र वरोऽयं मेऽभिकांक्षितः ।।[1]

"हे राम आप का नाम-स्मरण करते हुए मेरा मन तृप्त नहीं होता । अतः मैं निरन्तर आप का नामस्मरण करता हुआ पृथ्वी पर रहूँ । हे राजेन्द्र, मेरा मनो-वांछित वर यही है कि जब तक संसार में आपका नाम रहे तब तक मेरा शरीर भी रहे ।"

रामचरितमानस में भी अनेक भक्त ऐसे हैं जो प्रेम मग्न होकर निरन्तर राम(नाम) का ही स्मरण-उच्चारण करते रहते हैं । अशोकवाटिका में रहनेवाली सीता का जो चित्र हनुमान ने खींचा है वह इसका उदाहरण है । सीता अहर्निश राम नाम रटती रहती हैं ।[2]

रूपस्मरण

मानस के सारे भक्त श्रीराम के रूप और उनकी लीलाओं का स्मरण निरन्तर करते रहते हैं । यह मुख्यतः राम के वियोग में होता है । सीता ने जनक की पुष्पवाटिका में सबसे पहले राम को देख लिया था । उसके

---

1. अध्यात्मरामायण - युद्धकांड - 16: 12, 13, 14
2. नाम पाहरू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट ।। मानस - सुन्दर - 30

बाद वे गिरिजा के मन्दिर में जाती हैं । लेकिन हृदय में राम की "स्यामल मूरति" रखकर ही वे मन्दिर में जाती हैं ।[1] तुलसीदास ने सीता के प्रेमपूर्ण राम-स्मरण का सुन्दर चित्रण किया है :

परम प्रेममय मृदु मसि कीन्ही । चारु चित्त भीतीं लिखि लीन्हीं ।।[2]

उन्होंने राम का चित्र अपने चित्तरूपी भित्ति पर प्रेमरूपी कोमल स्याही से चित्रित कर लिया था ।

लीलास्मरण एवं गुणचिन्तन

मानस में भक्तों द्वारा राम की लीलाओं के स्मरण के अनेक प्रसंग आए हैं । राम को वन में पहुँचाकर वापस आए मंत्री सुमंत्र से राजा दशरथ सारी बातें पूछते हैं । उस प्रसंग में सुमंत्र राम की यात्रा की एक एक घटनाओं का स्मरण करते हैं ।[3] उसी प्रकार राम-वनगमन की बात जान लेने पर भरत राम के गुणों और आचरणों की स्मृति में लीन हो

---

1. चली राखि उर स्यामल मूरति । मानस - बालकाण्ड - 235.1
2. मानस - बाल. 235.2
3. प्रथम बासु तमसा भयउ दूसर सुरसरितीर ।
   न्हाइ रहे जलपानु करि सिय समेत दोउ बीर ।।
   केवट कीन्हि बहुत सेवकाइ । सो जामिनि सिंगरौर गँवाई ।।
   होत प्रात बट छीरु मगावा । जटा मुकुट निज सीस बनावा ।।
   राम सखा तब नाव मगाई । प्रिया चढाइ चढे रघुराई ।।
   मानस - अयोध्या- 150, 151.1, 2

जाते हैं ।[1] इस अवसर पर भरत को आत्मनिन्दा करते हुए दिखाया गया है । परन्तु उनकी सभी उक्तियों में राम स्मरण में सुख पानेवाले एक भक्त का ही चित्र खींचा गया है ।

भक्ति उपास्यसुखापेक्षी है

पराभक्ति में भक्त अपने सुख की नहीं , वरन् अपने आराध्य के सुख की अपेक्षा रखते हैं। यह सच है कि भक्ति से भक्त को परम आनन्द की प्राप्ति होती है । फिर भी भक्त कभी अपने सुख की इच्छा नहीं रखते हैं । श्रीमद् भागवत में इस प्रकार भगवत् सुख में अपना सुख माननेवाले भक्तों के रूप में गोपिकाओं को प्रस्तुत किया गया है । रासपंचाध्यायी के गोपिकागीत में गोपियाँ कहती हैं :

यत्ते सुजात चरणांबुरुहं स्तनेषु
भीताः शनैः प्रिय दधीमहि कर्कशेषु ।
तेनाटवीमटसि तद् व्यथते न किंस्वित्
कूपादिभिर्भ्रमति धीर्भवदायुषां नः ।।[2]

"तुम्हारे चरण कमल के समान कोमल है । उन्हें हम अपने कठोर स्तनों पर भी डरते डरते बहुत धीरे से रखती हैं कि कहीं उन्हें चोट न

---

1. जद्यपि मैं अनभल अपराधी । मै मोहि कारन सकल उपा धी ।।
   तदपि सरन सनमुख मोहि देखी । छमि सब करिहहि कृपा बिसेषी ।।
   सील सकुच सुठि सरल सुभाऊ । कृपा सनेह सदन रघुराऊ ।।
   अरिहूक अनभल कीन्ह न रामा । मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा ।।
   मानस - अयो. 183.2,3

2. भाग 10.31.19

लग जाय । उन्हीं चरणों से तुम रात्रि के समय घोर जंगल में छिपे छिपे भटक रहे हो । क्या कंकड, पत्थर आदि की चोट लगने से उनमें पीडा नहीं होती ? हमें तो इसकी संभावना मात्र से चक्कर आ रहा है, हम अचेत होती जा रही हैं ।" इस भाव का अभिनन्दन स्वयं भगवान् ही करते थे । वे उद्धव से गोपी-प्रेम का महत्व बताते हैं कि गोपियों का मन नित्य निरन्तर मुझमें ही लगा रहता है । उनके प्राण, उनका जीवन, उनका सर्वस्व मैं ही हूँ । मेरे लिए उन्होंने अपने पति-पुत्र आदि सभी सगे संबंधियों को छोड दिया है । उन्होंने बुद्धि से भी मुझी को अपना प्यारा, अपना प्रियतम, अपनी आत्मा मान रक्खा है । मेरे लिए सारे लोकधर्म छोडनेवाली उनकी रक्षा मैं स्वयं करता हूँ ।[1] नारद ने अपने भक्तिसूत्रों में इसी उपास्यसुखापेक्षिता के कारण, गोपियों को भक्तों के आदर्श माना ।[2] उस प्रसंग में उन्होंने इस बात को रेखांकित किया है कि गोपियों का कृष्ण प्रेम जारिणियों का जैसा नहीं है । व्यभिचारी मनुष्य कामवश होकर केवल अपने सुख के लिए, अपनी तृप्ति के लिए प्रीति किया करते हैं, वे अपने प्रेमास्पद के सुख से सुखी नहीं होते ।[3] गोपियों के प्रेम में यह भाव नहीं था । लौकिक कामजनित प्रीति में प्रेमास्पद पुरुष जार होता है और प्रेमिका के मन में उसके अंग संग की इच्छा होती है । यहाँ प्रेमास्पद साक्षात्

---

1. ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्त दैहिकाः ।
   मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः ।
   ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम् । भाग 10.46.4
2. ना.भ.सू. 21
3. नास्त्येव तस्मिन् तत्सुखसुखित्वम् ।
   ना.भ.सू. 24

विश्वात्मा भगवान् थे - यह बात गोपियाँ जानती भी थीं [1] - और गोपियों के मन में अंग संग की कामना भी नहीं थी । गोपियाँ केवल कृष्ण सुख की अभिलाषिणी थीं । अपना सर्वस्व देकर वे श्रीकृष्ण को सुख पहुँचाना चाहती थीं । जिस बात में श्रीकृष्ण की प्रसन्नता होती वही करना उनका धर्म था । यह तथ्य भक्ति में अनुपेक्षणीय है । इसको नारद ने "तत्सुखसुखित्वं" अर्थात् उस {प्रियतम} के सुख में अपना सुख मानने का भाव कहा है ।

रामचरितमानस में प्रतिपादित भक्ति में इस तत्व का ठीक समावेश हुआ है । उपास्य के सुख में अपने को सुखी मानना मानस के सभी पात्रों की विशेषता है । श्रीराम को सुख पहुँचाना अपना जीवन व्रत माननेवाले भक्तों में लक्ष्मण का स्थान अद्वितीय है । मनसा वाचा कर्मणा श्रीराम को सुख पहुँचाने में वे व्यग्र हैं । यह उनके जीवन के प्रारंभ से ही प्रकट है । विश्वामित्र की यज्ञरक्षा के लिए राम के साथ लक्ष्मण भी जाते हैं । वहाँ श्रीराम के चरण दबाकर उन्हें सुख पहुँचाने में आनन्दित होनेवाले लक्ष्मण का चित्रण किया गया है । उसके बाद राम के वन गमन का समाचार सुनकर वे भी वन के लिए निकल पडते हैं । उस समय माता सुमित्रा ने उन्हें जो उपदेश दिया उसमें राम के सुख में अपना सुख अनुभव करने की बात आयी है :

उपदेसु यहु जेहिं तात तुम्हरे राम सिय सुख पावहीं ।
पितु मातु प्रिय परिवार पुर सुख सुरति बन बिसरावहीं ।। [2]

---

1. न खलु गोपिकानन्दनो भवान्
अखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान् सात्वतां कुले । भाग 10.31.4

2. मानस - अयो. 75 छंद

लक्ष्मण का आदर्शभरत जीवन इस उपदेश के अनुसार है ।
वनवास के समय उन्होंने श्रीराम के सुख में अपना सुख मानकर अनेक प्रकार के कष्ट सहे । लक्ष्मण के समस्त व्यवहार "तत्सुखसुखित्व" को लक्ष्य में रखकर हैं ।

राम के सुख में अपने को सुखी माननेवाली सीता के दर्शन राम वनगमन के प्रसंग में मिलते हैं । राम के साथ वन जाने में सीता को तनिक भी दुःख नहीं है । वन की कठोरता में भी वे आनन्द मानती है । सीता राम से कहती हैं कि आप के साथ पशु और पक्षी मेरे कुटुम्बी होंगे, वन नगर रहेगा और वृक्षों के छाल निर्मल वस्त्र होंगे । राम को सुखी बनाने के लिए पर्ण कुटी भी उन्हें स्वर्ग के समान सुखों का मूल होगी ।[1] लक्ष्मण और सीता के समान भरत, हनुमान् जैसे भक्त भी राम के सुख को अपना सुख मानते हैं । भरत राम को वनवास से छुडाकर वापस अयोध्या ले जाने के लिए चित्रकूट आते हैं । अन्त में वे अपना हठ छोड देते हैं और सारे निर्णय का अधिकार श्रीराम को ही देते हैं ।

भक्ति निष्कामरूपा है :

अपने उदात्त रूप में भक्ति निष्काम होती है । उसमें लौकिक कामनाओं का नितान्त अभाव होता है । भक्ति के गौण रूपों में कामनायुक्त भक्ति भी है, परन्तु उसके परा रूप में कामनाओं का कोई स्थान

---

1. खग मृग परिजन नगरु बनु बल्कल बिमल दुकूल ।
   नाथ साथ सुर सदन सम परनसाल सुखमूल ।। मानस - अयो. 65

नहीं है । वहाँ भक्ति केवल भक्ति के लिए है, वह भगवान् के प्रति प्रेम का सहज, स्वाभाविक एवं निर्बाध प्रवाह है । श्रीमदभगवद्गीता के बारहवें अध्याय भक्तियोग में अपने प्रियभक्त की विशेषतायें देते हुए भगवान् कहते हैं कि वह कुछ भी न चाहता है - न कांक्षति ।[1] श्रीमद्भागवत् में भक्ति में निष्काम भावना को अत्यन्त महत्व दिया गया है । उसके सप्तम स्कंध में प्रह्लाद द्वारा भक्ति में सकामभावना की घोर आलोचना हुई है । इस प्रसंग में वे कहते हैं कि जो भगवान् से अपनी कामनायें पूर्ण करना चाहता है, वह सेवक नहीं, वह तो लेन-देन करनेवाला निरा बनिया है ।[2] नारद भक्तिसूत्रों में अनेक बार यह बात बतायी गयी है । उसमें स्पष्ट कहा गया है कि निरोधरूप होने के कारण भक्ति कामना रहित है ।[3] इसके प्रथम अध्याय में बताया गया है कि भक्ति को पाकर मनुष्य किसी भी वस्तु की अभिलाषा नहीं रखता है, वह विषयों की प्राप्ति के लिए उत्सुक नहीं होता है ।[4] उसी प्रकार "भक्ति साधनानि" नामक तृतीय अध्याय में प्रेमा भक्ति की प्राप्ति में कामनात्याग को मुख्य स्थान दिया गया है ।[5] भक्ति के इस निष्काम रूप का सबसे अच्छा दृष्टांत भक्तकवि कुलशेखर आलवार की मुकुन्दमाला में प्रकट हुआ है जहाँ वे कहते हैं कि मैं भगवान् की आराधना किसी भी कामना से नहीं करता हूँ चाहे वह कामना मोक्ष की हो,

---

1. यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।
   शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः ।। गीता - 12.17
2. यस्त आशिष आशास्तेन स भृत्यः स वै वणिक् । भाग 7.10.4
3. सा न कामयमाना निरोध रूपत्वात् । ना.भ.सू. 7
4. यत्प्राप्य न किंचित् वांछति, न द्वेष्टि, न रमते , नोत्साही भवति ।
   ना.भ.सू. 5
5. तत्तु विषयत्यागात् संगत्यागाच्च । ना.भ.सू. 35

स्वर्ग की हो अथवा नरक से बचने की हो ।[1]

रामचरितमानस की भक्ति भी निष्कामरूपा है । इसके सारे प्रमुख भक्त निष्काम भाव से ही भगवान् के कीर्तन, भजन और सेवा करते हैं । उदाहरणस्वरूप हनुमान्, भरत, सीता, निषादराज गुह आदि हैं । इसके अलावा मानसकार ने यत्र तत्र भक्ति को निष्कामरूपा बताया भी है । अयोध्याकांड में वाल्मीकि राम के वास के स्थान बताते हैं । उस प्रसंग में वे राम से कहते हैं कि आप निष्काम भाववाले व्यक्तियों के मन में निवास कीजिए :

जाहि न चाहिअ कबहुँ कछु तुम सन सहज सनेहु ।
बसहु निरन्तर तासु मन सो राउर निज गेहु ।।[2]

यही बात श्रीराम के मुख से भी निकली है । अरण्यकांड में लक्ष्मण को भक्तियोग का स्वरूप बताते वक्त श्रीराम कहते हैं कि जिनको कर्म, वचन और मन से मेरी ही गति है और जो निष्काम भाव से मेरा ही भजन करते हैं उनके हृदय कमल में मैं सदा विश्राम किया करता हूँ ।[3]

---

1. नाहं वन्दे तव चरणयोर्द्वन्द्वमद्वन्द्वहेतोः
   कुंभीपाकं गुरुमपि हरे नारकं नापनेतुम् ।
   रम्यारामा तनुलता नन्दने नापिरन्तुम्
   भावे भावे हृदयभवने भावयेऽहं भवन्तम् ।। मुकुन्दमाला - 3.
2. मानस - अयो. 131
3. बचन कर्म मन मोरि गति भजनु करहिं निःकाम ।
   तिन्हके हृदयकमल महुँ करउँ सदा विश्राम ।। मानस - अर. 16

मानस में वर्णित रामभक्तों में निष्काम भक्ति के लिए लक्ष्मण अत्यन्त प्रसिद्ध हैं । लक्ष्मण श्रीराम की सेवा किसी भी स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं करते हैं । भरत में भी यह निष्काम भाव अत्यन्त उच्च रूप में प्रकट हुआ है । उनके मन में चारों पुरुषार्थों के प्रति किंचित् भी रुचि नहीं है । जन्म जन्म में श्रीराम के चरणों में प्रेम हो, यही उनकी एकमात्र प्रार्थना है ।[1] इन सबसे स्पष्ट है कि मानस में वर्णित भक्ति विषयों के प्रति विरक्ति एवं निष्काम भाव से युक्त है ।

भक्ति द्वेषरहित है

भक्ति में किसी के प्रति द्वेष की गुंजाइश नहीं है । श्रीमद्-भगवद्गीता के "भक्तियोग" नामक अध्याय में भगवान् ने भक्तों की विशेषताएँ बतायी हैं । उनमें सर्वप्रथम आनेवाली बात सब के प्रति द्वेष राहित्य है ।[2] श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में कपिलोपदेश के प्रसंग में इसका और भी स्पष्टीकरण हुआ है । वहाँ भगवद्भक्तों को सहनशील, दयालु, समस्त देहधारियों के सुहृद, किसी के प्रति भी शत्रुभाव न रखनेवाले, शान्त व सरल-स्वभाव बताये गये हैं ।[3] नारद भक्ति सूत्रों में बताया गया है कि भक्ति को प्राप्त करके मनुष्य किसी से भी द्वेष नहीं करता ।[4]

---

1. अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहऊं निरबान ।
   जनम जनम रति राम पद यह बरदानु न आन ।। मानस - अयो. 204
2. अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च ।
   निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी ।। गीता 12.13
3. तितिक्षवः कारुणिकाः सुहृदः सर्वदेहिनाम् ।
   अजातशत्रवः शान्ताः साधवः साधुभूषणाः ।। भाग 3 - 25.21
4. ना. भ. सू. 5

रामचरितमानस में भी द्वेषराहित्य पर अधिक बल दिया गया है । इसके अनेक कारण हैं । एक है समन्वय की भावना । शैव और वैष्णव उपासना प्रणालियों का समन्वय तुलसीदास को अभीष्ट था । अतः शिव द्वेष का समग्र निराकरण मानस में हुआ है । लंकाकांड के प्रारंभ में राम के द्वारा शिवलिंग की प्रतिष्ठा होती है । इस अवसर पर श्रीराम का कथन है कि जो शिवद्रोह करता है और मेरा भक्त कहलाता है, वह स्वप्न में भी मुझे नहीं पाता । शंकर द्वेष करके जो मेरी भक्ति चाहता है, वह नरकगामी मूर्ख और अल्पबुद्धि है :

शिव द्रोही मम भक्त कहावा । सो नर सपनेहुँ मोहि न पावा ।।
संकर बिमुख भगति चह मोरी । सो नारकी मूढ मति थोरी ।।[1]

द्वेष राहित्य का श्रेष्ठ उदाहरण भरत में है । यद्यपि वे पहले भावुकतावश कैकेयी पर दोषारोपण करते हैं, फिर भी बाद में सब को निर्दोषी बताते हैं । वे माता पर दोषारोपण करने का पश्चात्ताप भी करते हैं । लोगों के सुख दुःख काल,[2] कर्म[3] एवं विधि[4] के अनुरूप है, यह विश्वास मानस

---

1. मानस - लंका 2.4
2. बलेन सचिवैर्बुध्या दुर्गैर्मन्त्रौषधादिभिः ।
   सामादिभिरुपायैश्च कालं नात्येति वै जनः ।। भाग 8.21.22
3. सुखस्य दुःखस्य न कोऽपि दाता परोददातीति कुबुद्धिरेषा ।
   अहं करोमति वृथाभिमानः स्वकर्मसूत्रग्रथितो हि लोकः ।।
   सुभाषितरत्न भाण्डागारम् - पृ.92
4. गजभुजंगविहंगमबन्धनं शशिदिवाकरयोः ग्रहपीडनं ।
   मतिमतां च विलोक्य दरिद्रतां विधिरहो बलवानिति मे मतिः ।।
   नीतिशतकम् - 91.

में भी प्रकट हुआ है ।[1] इसके आधार पर दूसरों को दोषी न ठहराना ही मानसकार को अभीष्ट है । अतएव मानस के भक्त किसी से द्वेष नहीं रखते हैं ।

भक्ति शान्तिरूपा है

भक्ति में मनुष्य का मन एकाग्र होता है, उसकी हलचलें समाप्त होती हैं । इस प्रकार शान्ति भक्ति का स्वरूप है । यद्यपि भक्तों में उन्मत्तता, स्तब्धता जैसी बाह्य विशेषतायें देखने को मिलती हैं फिर भी ये आन्तरिक शान्ति के अनुकूल होने पर ही भक्ति के लक्षण बनते हैं । भक्त की अधोभ्यता एवं शान्तस्थिति का सुन्दर वर्णन गीता के भक्तियोग नामक बारहवें अध्याय में मिलता है । वहाँ कहा गया है कि हर्ष, अमर्ष, भय, उद्वेग आदि से मुक्त भक्त ही भगवान् के प्रिय हैं ।[2] श्रीमद् भागवत् के अंबरीष में ऐसी शान्ति का प्रत्यक्ष दर्शन हमें प्राप्त होता है । अपने वध के लिए दुर्वासा के द्वारा भेजी गयी कृत्या को देखकर वह तनिक भी विचलित नहीं होता है ।[3] भक्तिसूत्रों के चतुर्थ अध्याय में नारद ने भक्ति को स्पष्ट ही शांतिरूपा बतायी है ।[4] उसी प्रकार

---

1. पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी । काल करम बिधि सिर धरि खोरी ।।
   मानस - अयो. 244.4
2. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
   हर्षामर्षभयोद्वेगैः मुक्तो यः स च मे प्रियः ।। गीता 12.15
3. तामपतन्तीं ज्वलतीमसिहस्तां पदाभुवम् ।
   वेपयन्तीं समुद्वीक्ष्य न चचाल पदान्नृपः ।। भाग 9.4.47
4. शान्तिरूपात् परमानन्दरूपाच्च । ना.भ.सू. 60

भक्तिरसामृतसिंधु में भी भक्ति को शान्तिरूपा स्थापित किया गया है । अपनी बात स्थापित करने के लिए रूपगोस्वामी पुराण की एक उक्ति उद्धृत करते हैं कि शोक, अमर्ष आदि भावों से जिसका मन आक्रान्त है, वहाँ भक्ति भाव की स्फूर्ति कैसे हो सकती है ?[1]

रामचरितमानस में वर्णित भक्ति में यह आन्तरिक शान्ति प्रदर्शित हुई है । हाँ, जब भक्त भगवद्विरह में तड़पते हैं अथवा अपनी ओर से कोई भूल मानते हैं तब उनकी आन्तरिक शान्ति भंग होती है । परन्तु यह उनकी स्थायी अवस्था नहीं है । स्थायी अवस्था तो शान्ति की ही है । सीता, जो राम-वियोग की स्थिति में अत्यन्त अशान्त दिखाई पड़ती हैं, राम के पुनः समागम में अपनी खोयी हुई शान्ति भी पुनः प्राप्त करती है । राम वनगमन की बात सुनकर जो भरत अत्यंत व्याकुल एवं क्षुब्ध बन गए थे, वही भरत राम की पादुकाओं की पूजा करके कितने शान्त बन जाते हैं । भरत के द्वारा चौदह वर्ष बिताने की बात तुलसीदास ने सुन्दर ढंग से चित्रित किया है । उस चित्रण से भरत की शान्त-गंभीर अवस्था का पता चलता है :

देह दिनहुँ दिन दूबरि होई । घटइ तेजु बलु मुख छबि सोई ।।
नित नव राम प्रेम पनु पीना । बढत धरम दलु मनु न मलीना ।।
जिमि जलु निघटत सरद प्रकासे । बिलसत बेतस बनज बिकासे ।।
सम दम संजम नियम उपासा । नखत भरत हिय बिमल अकासा ।।
ध्रुव बिस्वासु अवधि राकासी । स्वामि सुरति सुर बीथि बिकासी ।।
राम पेम बिधु अचल अदोषा । सहित समाज सोह नित चोखा ।।[2]

---

1. शोकामर्षादिभि र्भावैः आक्रान्तं यस्यमानसम् ।
   कथं तत्र मुकुन्दस्य स्फूर्ति संभावना भवेत् ।। भ. र. सिं. - पृ. 50
2. मानस - अयोध्याकाण्ड-325.1-3

यहाँ "मनु न मलीना", "हिय बिमल अकासा" आदि प्रयोग भरत की आन्तरिक शांति का व्यक्त चित्र प्रस्तुत करते हैं । इन पंक्तियों से भक्ति की शांतिरूपता स्पष्ट होती है ।

भक्ति परमानन्दरूपा है :

भक्ति को शान्तिरूपा बतानेवाले सूत्र में नारद ने उसे परमानन्दरूपा भी बतायी है । यह आनन्द विषय भोग से प्राप्त आनन्द से भिन्न है । अतः इसे परम आनन्द कहा गया है । कुलशेखर आलवार अपनी मुकुन्दमाला में स्पष्ट घोषणा करते हैं कि इससे बढकर आनन्द देनेवाली कोई बात वे जानते ही नहीं हैं ।[1] श्रीमद्भागवत के प्रथम स्कंध में नारद व्यासजी को अपनी पूर्वकथा सुनाती है । वहाँ वे कहते हैं कि भक्ति को प्राप्त करके मेरी अवस्था परमानन्दमयी हुई थी ।[2] इस आनन्द की अवस्था में भक्त कभी कभी मत्त और स्तब्ध बन जाता है ।[3] कभी कभी उनका गला अवरुद्ध होता है, उन्हें रोमांच होता है और उनकी आँखों से आँसू आता होता है ।[4] इस अवस्था का बाह्य स्फुरण अनेक रीतियों से होता है । कभी कभी आनन्दातिरेक में भक्त हँसता है, कभी आनन्दाश्रु बहाता है, ज़ोर से गाने

---

1. सुखतरमपरं न जातु जाने हरिचरणस्मरणामृतेन तुल्यम् । मुकुन्दमाला - 10
2. प्रेमातिभरनिर्भिन्नपुलकांगोऽति निर्वृतः ।
   आनन्द संप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ।। भाग 1.6.18
3. यत् ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवति आत्मारामो भवति । ना.भ.सू. 6
4. कंठावरोधरोमांचाश्रुभिः परस्परं लपमानाः .... । ना.भ.सू. 68

लगता है और कभी कभी नाचने लगता है ।[1] भगवान् में मन लगाने पर होनेवाली आनन्दपूर्ण स्थिति का वर्णन मुकुन्दमाला में इस प्रकार आया है कि भगवान् के चरण-ध्यान में लीन होकर हमारे शरीर में रोमांच होता है, गले में स्वर भंग होता है तथा आँखों से हर्षाश्रु बहने लगती है ।[2]

रामचरितमानस में भी भक्ति को परमानन्दरूपा बतायी गयी है । श्रीराम जनकपुरि में आकर जब जनक से मिलते हैं, तब जनक इसी परमानन्द की अवस्था प्राप्त करते हैं । राजा जनक निर्गुण ब्रह्म में निष्ठावान् थे । फिर भी उनका कथन है कि राम को देखकर मेरा मन ब्रह्म सुख को त्याग देता है ।[3] इससे स्पष्ट है कि मानस में भक्ति से प्राप्त आनन्द को ब्रह्मानन्द से भी महान् माना गया है । मानसकार भक्ति को सच्चे अर्थ में परमानन्दरूपा मानते हैं । भक्ति के आनन्द में होनेवाली मत्तता, स्तब्धता आदि मानसिक अवस्थायें तथा अश्रुपात, रोमांच, कण्ठावरोध आदि बाह्यलक्षण मानस में यत्र तत्र आए हैं ।

---

1. वाग्गद्गता द्रवते यस्य चित्तं हसत्यभीक्ष्णं रुदति क्वचिच्च ।
   विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ।। भाग ।।.14.24
2. बद्धेनांजलिना नतेन शिरसा गात्रैस्सरोमोद्गमैः
   कंठेन स्वरगद्गदेन नयनेनोद्गीर्णबाष्पांबुना ।
   नित्यं त्वच्चरणारविन्दयुगल ध्यानामृतास्वादिनां
   अस्माकं सरसीरुहाक्ष सततं संपद्यतां जीवितम् ।। मुकुन्दमाला - 32
3. इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा । बरबस ब्रह्मसुखहि मन त्यागा ।।
   मानस - बाल- 216.3

राम ने स्वयं भक्ति का लक्षण बताते हुए लक्ष्मण से कहा है कि भक्त जब मेरे गुण गाते हैं तब उनके शरीर पुलकित होते हैं, वाणी गद्गद हो जाती है तथा नेत्रों से आँसू बहने लगते हैं :

मम गुन गावत पुलक सरीरा । गदगद गिरा नयन बह नीरा ।।[1]

अगस्त्य शिष्य सुतीक्ष्ण के प्रेम में रोमांच, भक्तता, स्तब्धता आदि प्रकट हुए हैं । इस अरण्यवासी भक्त ने जब राम के आगमन की बात सुनी तब उनकी अवस्था बडी विलक्षण हो जाती है । वे अनेक प्रकार के मनोरथ करके शीघ्रता से दौड चले । उन्हें दिशा और रास्ता कुछ भी नहीं सूझ रहा था । "मैं कौन हूँ और कहाँ जा रहा हूँ" यह भी वे भूल गये थे । वे कभी पीछे घूमकर फिर आगे चलते थे और कभी रामगुण गाकर नाचने लगते थे ।[2] फिर वे बीच ही रास्ते में अचल-से बैठ गये । उनका शरीर रोमांचित हो गया । राम के अनेक जगाने पर भी मुनि जगे नहीं । उन्हें प्रभु ध्यान का परम आनन्द प्राप्त हुआ था ।[3]

भक्ति अमृतस्वरूपा है

भक्ति की परिभाषा देते हुए नारद ने स्पष्ट कहा है कि

---

1. मानस - अरण्य - 16.6
2. दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा । को मैं चलेउँ कहाँ नहिं बूझा ।।
   कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई । कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ।। मानस.अर. 10.
3. मुनि मग माझ अचल होइ बैसा । पुलक सरीर पनस फल जैसा ।
   तब रघुनाथ निकट चलि आए । देखि दसा निज जन मन भाए ।।
   मुनिहि राम बहु भाँति जगावा । जाग न ध्यान जनित सुख पावा ।
   मानस - 10.8,9

भक्ति अमृतस्वरूपा है ।[1] गीता के बारहवें अध्याय में भक्त का स्वरूप बताकर भगवान् ने उसकी विशेषताओं को धर्म्यामृत कहा है।[2] भक्त अमृतत्व को प्राप्त करते हैं, यह बात श्रीमद्भागवत, नारद भक्तिसूत्र एवं शांडिल्यभक्तिसूत्र एक स्वर में कह देते हैं । भागवत के कपिलोपदेश में आया है कि जो लोक अनन्य भक्ति से भगवान् का भजन करते हैं वे मृत्यु को पार करते हैं ।[3] श्रीमन्नारायणीय में कपिलोपदेश के प्रसंग में भक्ति को "मृत्योर्विजेत्री" - मृत्यु को जीतनेवाली - कहा गया है ।[4] नारद भक्तिसूत्रों में कहा गया है कि भक्ति को प्राप्त हुआ मनुष्य अमृत बन जाता है ।[5] शाण्डिल्यभक्तिसूत्रों में "तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात्" नामक तीसरे सूत्र में भक्ति का अमृतस्वरूप व्यक्त किया गया है ।[6] रूपगोस्वामी ने तो अपने विख्यात भक्तिशास्त्र ग्रंथ को भक्तिरसामृतसिंधु नाम देकर भक्ति रस को अमृत के समान माना है । इस प्रकार भक्ति के अमृतस्वरूपत्व पर सारे आचार्य एकमत है ।

---

1. अमृतस्वरूपा च । ना.भ.सू. 3
2. ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।
   श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेतीव मे प्रियाः । गीता 12.20
3. भजन्त्यनन्यया भक्त्या तान्मृत्योरतिपारये । भाग, 3.26.40
4. मम गुणगणलीलाकर्णनैः कीर्तनाद्यैः मयि सुरसरिदोघप्रख्यचित्तानुवृत्तिः ।
   भवति परमभक्तिः सा हि मृत्योर्विजेत्री कपिलतनुरितित्वं देवहूत्यै न्यगादीः ।।
   नारायणीय-15.5
5. यल्लब्ध्वा सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति ।। ना.भ.सू. 4
6. शाण्डिल्यभक्तिसूत्र - 3

रामचरितमानस में भी भक्ति को अमृतस्वरूपा मानी गई है । "अमृत" या उसके समानार्थी शब्दों का प्रयोग भक्ति के विशेषण के रूप में अनेक स्थानों पर हुआ है । भरत जब वन जाने का निर्णय लेते हैं तब उनके वचन सब लोगों को अत्यन्त प्रिय लगे । इस प्रसंग में कवि कहते हैं कि भरत के वचन मानो राम प्रेमरूपी अमृत में पगे हुए थे ।[1] यहाँ "राम सनेह" अथवा भक्ति को अमृत से अभिन्न माना गया है । वन-यात्रा के बीच में प्रयाग में भरत भरद्वाज ऋषि से मिलते हैं । उस संदर्भ में भरद्वाज कहते हैं कि भरत ने राम प्रेमरूपी अमृत को पृथ्वी में सुलभ करा दिया है । वे यह भी कहते हैं कि भरत का यश रूपी चन्द्रमा श्रीराम प्रेमरूपी अमृत से पूर्ण है :

पूरन राम सुपेम पीयूषा । गुर अवमान दोष नहिं दूषा ।।
राम भगत अब अमिअँ अघाहूँ । कीन्हेहु सुलभ सुधा वसुधाहूँ ।।[2]

यहाँ भक्ति को पीयूष, अमृत व सुधा कहकर उसकी अमृतस्वरूपता व्यक्त की गयी है । इसके बाद भक्ति को अमृत एवं भरत को समुद्र बताकर एक सुन्दर रूपक बाँधा गया है । वह इस प्रकार है : प्रेम अमृत है, राम-वियोग मंदराचल है और भरत गहरा समुद्र है । कृपासिंधु राम ने देवताओं एवं साधुओं के हित के लिए स्वयं इस समुद्र को मथकर अमृत प्रकट किया ।[3] भक्ति को

---

1. भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे । राम सनेह सुधा जनु पागे ।। मानस. अयो. 184.।
2. मानस - अयोध्या . 209.3
3. प्रेम अमिअ मंदरु बिरहु भरतु पयोधि गंभीर ।
मथि प्रगटेउ सुर साधु हित कृपासिंधु रघुबीर ।। मानस - अयो. 238

अमृतस्वरूपा माननेवाली और भी उक्तियाँ मानस में आयी है ।[1]

निष्कर्ष

भक्ति की शास्त्रीय विवेचना करनेवाले विभिन्न ग्रंथों में भक्ति के स्वरूप का विशद प्रतिपादन हुआ है । श्रीमद् भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, नारद एवं शांडिल्य के भक्तिसूत्र, भक्ति रसामृतसिंधु आदि ग्रंथों में भक्ति के स्वरूप के बारे में जो बातें बतायी गयी हैं, वे अत्यन्त प्रामाणिक हैं । रामचरित-मानस में तुलसीदास ने भक्ति का जो रूप प्रस्तुत किया है, वह उनके अगाध पांडित्य एवं निजानुभूति के कारण उतना ही प्रामाणिक है । ऊपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों में भक्ति का स्वरूप स्पष्ट करनेवाले जितने तत्व आए हैं, वे सब रामचरितमानस में भी उपलब्ध हैं । जहाँ अधिकांश शास्त्रीय ग्रंथों में सैद्धांतिक रूप से ही भक्ति का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है वहाँ रामचरितमानस में वे सब बातें पात्रों के माध्यम से अत्यन्त हृद्य ढंग में प्रस्तुत हुई हैं । एक काव्य होने के नाते मानस में भक्ति के स्वरूप के विभिन्न पहलुओं को विभिन्न पात्रों एवं प्रसंगों के द्वारा व्यक्त किया गया है । एक ही तत्व को व्यक्त करनेवाले अनेक प्रसंग मानस में आए हैं । स्पष्ट है, भक्ति के स्वरूप के बारे में संस्कृत के शास्त्रकार एवं मानसकार की मान्यताओं में सुस्पष्ट समानता है । रामचरितमानस एवं संस्कृत के शास्त्रीय ग्रंथों में भक्ति के स्वरूप का जो विश्लेषण हुआ है, उनके मूलभूत तत्व एक ही हैं ।

---

1. (अ) राम सनेह सुधाकर सारू । मानस - अयो. 326.4
   (आ) सिय राम प्रेम पीयूष पूरन होत जनमु न भरत को । मानस - अयो. अन्तिम छन्द ।

चतुर्थ अध्याय

रामचरितमानस में भक्ति के प्रकार

भगवद्विषयक चित्तवृत्ति भक्ति है ।[1] यह भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होती है । चूँकि दो व्यक्तियों के चित्त कभी भी पूर्ण रूप से समान नहीं होते हैं, इसलिए भिन्न लोगों में प्रकट होनेवाली भक्ति भी भिन्न रूपवाली होगी । अतः जितने भक्त हैं, उतने ही प्रकारों में भक्ति की अभिव्यक्ति भी हो सकती है । फिर भी आचार्यों ने इसके कुछ प्रमुख प्रकार बताये हैं । श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, नारद भक्तिसूत्र, शाण्डिल्य भक्तिसूत्र और भक्तिरसामृतसिंधु में भिन्न भिन्न प्रकार से भक्ति का वर्गीकरण किया गया है । श्रीमद् भगवद्गीता के सप्तम अध्याय में

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।
आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ।।[2]

कहकर भगवान् ने चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख किया है : आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी । ये चारों प्रकार के भक्त सुकृति हैं, उदार हैं ।[3] फिर भी भगवान को ज्ञानी भक्त ही सर्वाधिक प्यारे हैं । क्योंकि ज्ञानी स्वयं भगवान ही हैं ।[4]

श्रीमद्भागवत में तीन स्थानों में भक्ति के भेदों पर प्रकाश डाला गया है । पहले, तृतीय स्कंध में कपिलोपदेश में भक्ति के भेदों का वर्णन

---

1. सर्वेशे मनसो वृत्तिः भक्तिरित्यभिधीयते । भक्तिरसायन 1.3
2. गीता 7.16
3. प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः । वही 7.17
4. उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम् । वही - 7.18

हुआ है । यहाँ भवागन् कहते हैं कि साधकों के भाव के अनुसार, भक्ति के अनेक प्रकार होते हैं । स्वभाव और गुणों के भेद से मनुष्यों के भाव में भी भिन्नता आ जाती है ।[1] यहाँ निर्गुण भक्ति का तथा गौणी भक्ति के तीनों भेदों - तामस, राजस एवं सात्त्विक - का वर्णन है । इस प्रसंग के अलावा दो अन्य प्रसंगों में भी भक्ति के भेदों पर भागवतकार ने प्रकाश डाला है । एक सप्तम स्कंध के प्रह्लादचरित में है । वहाँ यह सुविख्यात श्लोक आता है :

श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।[2]

इसमें नवधा-नवलक्षणा-भक्ति का वर्णन है । श्रीमद्भागवत् में भक्ति के भेदों का वर्णन करनेवाला तीसरा प्रसंग एकादश स्कंध के वसुदेव-नारद संवाद में है । नारद यहाँ निमि एवं नवयोगियों का संवाद उद्धृत करते हैं । राजा निमि के प्रश्न के उत्तर के रूप में हरि नामक योगीश्वर एक दूसरे ढंग से भक्ति के तीन प्रकार बताते हैं - उत्तम, मध्यम एवं अधम ।[3]

भक्तिरसामृतसिंधु के पूर्व विभाग में भक्ति के भेदों का निरूपण है । उसकी दूसरी लहरी में भक्ति का एक प्रकार - साधना भक्ति - चर्चित हुई है । इसके दो भेद हैं वैधी और रागानुगा ।[4] वैधी भक्ति की उत्तम,

---

1. भक्तियोगो बहुविधो मार्गैभामिनि भाव्यते ।
   स्वभाव गुणमार्गेण पुंसां भावो विभिद्यते ।। भागवत 3:29:7
2. वही - 7.5.23
3. श्रीमद्भागवत - 11.2.45-47
4. वैधी रागानुगा चेति सा द्विधा साधनाभिधा । भक्तिरसामृतसिंधु 1.2.3

मध्यम, एवं कनिष्ठ ये तीन कोटियाँ हैं । रागानुगा के दो भेद हैं : कामरूपा एवं संबंधरूपा । भक्तिरसामृतसिंधु के पूर्व विभाग की तीसरी लहरी में भावभक्ति एवं चतुर्थलहरी में प्रेम भक्ति का उल्लेख मिलता है । भाव एवं प्रेम एक ही अवस्था की दो दशायें हैं ।[1] भक्तिरसामृतसिंधु के दक्षिण विभाग में पंचधा भक्ति का उल्लेख मिलता है ।[2] इसके आधार पर शांत, दास्य, संख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य ये पाँच प्रकार की भक्ति होती है ।

भक्तिसूत्रों में भक्ति के भेदों का सूक्ष्म विवेचन मिलता है । परा और गौणी ये दो भेद शांडिल्य एवं नारद मुख्य रूप से स्वीकार करते हैं । गौणी भक्ति के गीतोक्त तीन भेद दोनों भक्तिसूत्रकारों को स्वीकार्य हैं ।[3] गौणी भक्ति को शाण्डिल्य ने पराभक्ति का अंग माना है ।[4] नारद-भक्तिसूत्रों का प्रतिपाद्य मुख्यतः पराभक्ति है । नारद ने भक्तिसूत्रों के प्रथम एवं द्वितीय अध्यायों के नाम क्रमशः "पर-भक्तिस्वरूपम्" तथा "पर-भक्तिमहत्वम्" रखे हैं । उन्होंने दो सूत्रों में गौणी भक्ति की भी चर्चा की हैं ।[5] इनमें अत्यंत संक्षिप्त रूप से गौणी भक्ति के भेदों का भी विवेचन मिलता है । पराभक्ति के जिन भेदों का वर्णन नारद-भक्तिसूत्रों में मिलता है वह भक्त और भगवान के बीच के संबंध पर आधारित है ।

---

1. भावः स एव सान्द्रात्मा बुधैः प्रेमो निगद्यते । भक्तिरसामृतसिन्धु ।.4.।
2. भक्तास्तु कीर्तिताः शान्तास्तथा दाससुतादयः
   सखायौ गुरुवर्गश्च प्रेयस्यश्चेति पंचधा । वही 2.1.112
3. अ. गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् । शा.सू. 72
   आ. गौणी त्रिधा गुणभेदात् आर्तादिभेदाद्वा । ना.भ.सू. 56
4. या गौण भक्तयः श्रुतास्ताः परभक्त्यंगानि भवन्ति । शा.सू. 58 पर स्वप्नेश्वर भाष्य ।
5. ना.भ.सू. 56,57

पराभक्ति के भेद

भगवान में सहज स्वाभाविक प्रेम की अवस्था भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है । इसी को लक्ष्य करके नारद ने भक्ति की परिभाषा "सा त्वास्मिन् परम प्रेमरूपा" दी और शांडिल्य ने "सा परानुरक्तिरीश्वरे" बतायी । इसमें एकांतिक प्रेम की प्रमुखता है । एकांतिक प्रेम का तात्पर्य है साधना का सहज ही संपन्न होना । अर्थात् इस अवस्था में भक्त को अपनी ओर से बलपूर्वक कोई साधना करनी नहीं पडती, वह स्वयमेव संपन्न होती है । साधना उसका स्वभाव बन जाती है । इस प्रकार एकांतिकत्व को प्राप्त भक्त ही प्रमुख हैं ।[1] इस मुख्य भक्ति के ग्यारह भेद नारदभक्तिसूत्रों में आये हैं । श्रीमद्भागवत के श्रवणादि नवलक्षणा भक्ति एवं भक्तिरसामृतसिंधु के शान्तादि पंचधा भक्ति भी इन ग्यारह भेदों के अन्दर हमें प्राप्त होती हैं ।

भक्त अपनी साधकावस्था में प्रमुख रूप से जिस साधना का अवलंबन करते हैं, उसका प्रभाव पराभक्ति प्राप्त करने पर भी उनपर बना रहता है । इसी के आधार पर ये ग्यारह भेद किए गए हैं । वे हैं :

1. गुणमाहात्म्यासक्ति 2. रूपासक्ति 3. पूजासक्ति 4. स्मरणासक्ति
5. दास्यासक्ति 6. सख्यासक्ति 7. वात्सल्यासक्ति 8. कान्तासक्ति
9. आत्मनिवेदनासक्ति 10. तन्मयतासक्ति 11. परमविरहासक्ति ।[2]

---

1. भक्ताः एकान्तिनो मुख्याः । ना.भ.सू. 67
2. गुणमाहात्म्यासक्ति रूपासक्ति.....
   ..... आत्मनिवेदनासक्तितन्मयतासक्तिपरमविरहासक्तिरूपा
   एकधाप्येकादशधा भवति ।। ना.भ.सू. 82

अब पराभक्ति के इस सर्वसम्मत एवं सर्वाधिक विशद विभाजन के आधार पर मानस की भक्ति के भेदों पर प्रकाश डाला जायेगा ।

गुणमाहात्म्यासक्ति

ईश्वर का जो रूप भक्ति का आलंबन बनने में अधिक सरल हैं, वह उनका सगुण रूप है । इसलिए श्रीमद्भागवत, श्रीमद्भगवद्गीता आदि ग्रंथों में सगुण रूप को अधिक प्रमुखता दी गई है । श्रीमद्भगवद्गीता के भक्तियोग नामक बारहवें अध्याय में भगवान् कहते हैं कि अव्यक्त की उपासना साधारण साधक के लिए दुष्कर है ।[1] निर्गुण निष्ठा से सगुण भक्ति को श्रेष्ठ बताते हुए श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि जो निर्गुण स्वरूप में स्थित हैं और विधिनिषेधों की मर्यादा को लांघ चुके हैं, ऐसे बडे-बडे ऋषि-मुनि भी प्रायः भगवान् के अनन्त कल्याण गुणों के वर्णन में रमे रहते हैं ।[2]

भगवान् के गुण और माहात्म्य की ओर आकृष्ट होनेवाली भक्ति गुणमाहात्म्यासक्ति कहलाती है । इसमें भगवद्गुणों के श्रवण कीर्तन आदि में भक्त तल्लीन रहते हैं । भागवतोक्त नवधा भक्ति के "श्रवण" व "कीर्तन" के मूल में यही गुणमाहात्म्यासक्ति रूपी भक्ति काम करती है । भागवत में अनेक

---

1. क्लेशोधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
   अव्यक्ता हि गतिर्दुखं देहवद्भिरवाप्यते ।। गीता - 12.3
2. प्रायेण मुनयो राजन् निवृत्ता विधिषेधतः ।
   नैर्गुण्यस्था रमन्ते स्म गुणानुकथने हरेः ।। भागवत - 2.1.7

स्थानों में इस गुणमाहात्म्यासक्ति के बारे में कहा गया है । कपिलदेव ने निर्गुण भक्ति का स्वरूप बताते हुए कहा है :

मद्गुण-श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगांभसोंऽबुधौ ।।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्यह्युदाहृतम्
अहैतुक्याव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।[1]

अर्थात् मेरे गुणगणों का श्रवण मात्र से गंगाप्रवाह की तरह मनोवृत्ति मुझमें लग जाना- यही निर्गुण भक्ति का लक्षण है । भागवत के प्रथमस्कंध में भगवद्गुणों का वर्णन करना मनुष्य जीवन के समस्त सत्कर्मों का एकमात्र लक्ष्य बताया गया है ।[2] श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीभगवान् ने इसी बात को यों कहा है कि मेरे भक्त मुझमें मन लगाकर परस्पर मेरे गुणों का वर्णन करते हैं और सन्तुष्ट होते हैं ।[3] भक्तिरसामृतसिंधु के शान्त भक्ति में भी गुणमाहात्म्यासक्ति प्रकट होती है ।

नारद भक्तिसूत्रों में प्रथम अध्याय में ही इसका उल्लेख हुआ है वहाँ भक्ति को भगवान् की कथाओं में अनुराग कहा गया है ।[4] कथाओं में तो

---

1. भागवत - 3.29.11-12
2. इदं ही पुंसस्तपसः श्रुतस्य च स्विष्टस्य सूक्तस्य च बुद्धिदत्तयोः ।
   अविच्युतोऽर्थः कविभिर्निरूपितो यदुत्तमश्लोकगुणानुवर्णनम् ।। भागवत 1.5.22
3. मच्चित्ता मद्गतप्राणाः बोधयन्तः परस्परम्
   कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।। गीता 10.9
   शंकर भाष्य -"कथयन्तो ज्ञानबलवीर्यादि धर्मैः विशिष्टं मां .....।
4. कथादिष्विति गर्गः । ना.भ.सू.17

भगवान् के गुण एवं माहात्म्य वर्णित होते हैं । तृतीय अध्याय में भक्तिसाधनाओं के वर्णन के प्रसंग में भगवद्गुणों के श्रवण-कीर्तन को भक्ति साधना का एक प्रमुख अंग माना गया हैं ।[1] अंत में भक्ति के ग्यारह भेद बताते वक्त नारद ने इसी को सर्वप्रथम गिना है ।

रामचरितमानस में गुणमाहात्म्यासक्ति के यथेष्ट उदाहरण उपलब्ध होते हैं । स्वयं गोस्वामी तुलसीदास राम में गुणमाहात्म्यासक्ति रखनेवाले थे ।[2] इसीलिए उन्होंने रघुनाथगाथा के प्रणयन से आत्मतुष्टि की कामना की । यही नहीं मानस में यत्र तत्र पात्रों के द्वारा भगवान् के गुणों का गायन व श्रवण कराया भी गया है । यह भी गुणमाहात्म्यासक्ति भक्ति है । इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण मानस के वक्ता एवं श्रोता ही है । याज्ञवल्क्य, शिव तथा काकभुशुंडि रामकथा के वक्ता हैं और भरद्वाज, पार्वती तथा गरुड श्रोता हैं । ये भक्त भगवान् के गुण एवं माहात्म्य में आसक्त होकर उसके कीर्तन तथा श्रवण में लीन होते हैं । अतः इनकी भक्ति में हम गुणमाहात्म्यासक्ति देख सकते हैं । इनमें शिवजी प्रमुख हैं । शिवजी राम की प्रभुता से पूर्णतः परिचित हैं ।[3] राम के माहात्म्य में उनकी इतनी आस्था है कि उस पर सन्देह करनेवाली अपनी पत्नी सतीदेवी तक को वे त्याग देते हैं । राम को वे सर्वव्यापी परम चैतन्य मानते हैं और उसका वर्णन भी करते हैं ।[4] इसी प्रकार याज्ञवल्क्य भी भगवान् के गुणों में

---

1. लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनाद् । ना.भ.सू. 39
2. स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा
   भाषानिबंधमतिमंजुलमातनोति । मानस-बाल. श्लो 7
3. जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना । मा.उत्तर. 61.3
4. हरि व्यापक सर्वत्र समाना । प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ।
   देस काल दिसि बिदिसिहु माही । कहहु सो कहाँ जहाँ प्रभु नाहीं । मानस-
   बाल. 185.3

आसक्त हैं । वे ऋषि हैं । ऋषियों में भगवत्तत्व का पूर्ण ज्ञान है । भगवान् के गुण एवं माहात्म्य वे ठीक तरह से जानते हैं । ऋषि वसिष्ठ एक दूसरा भक्त है, जिनमें भी गुणमाहात्म्यासक्ति प्रकट हुई है । चित्रकूट की सभा में वसिष्ठ जो भाषण देते हैं, उसमें उनकी गुणमाहात्म्यासक्ति स्पष्ट झलकती है । वे कहते हैं : "सूर्यकुल के सूर्य महाराज श्रीराम चन्द्र धर्मधुरंधर और स्वतंत्र भगवान् हैं । वे सत्यप्रतिज्ञ हैं और वेद की मर्यादा के रक्षक हैं । श्रीरामजी का अवतार जगत् के कल्याण के लिए हुआ है । वे पिता और माता के वचनों के अनुसार चलनेवाले हैं । वे दुष्टों के दल का नाश करनेवाले और देवताओं के हितकारी हैं । नीति, प्रेम, परमार्थ और स्वार्थ को श्रीरामजी के समान कोई नहीं जानता । ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, चन्द्र, सूर्य, दिक्पाल, माया, जीव, सभी कर्म और काल, शेषजी आदि के भी सिर पर श्रीराम की आज्ञा है ।"[1] राम के गुण एवं माहात्म्य में उनकी जितनी आस्था थी, यह बात इस कथन से स्पष्ट है ।

रूपासक्ति

भगवान् का श्रीविग्रह नयनानन्दवर्धक है । इसे देखने के लिए समूचे सगुणोपासक लालायित होते हैं । और एक बार दृष्टिगोचर होने पर उस पर मुग्ध होते हैं । श्रीमद्भगवद् गीता में भगवान् के रूप का वर्णन इतने विस्तृत ढंग से किया गया है कि उसके लिए एक पूरा अध्याय ही खर्च कर दिया गया है ।[2] उसमें भगवान् के घोर रूप-विश्वरूप - तथा सौम्यरूप - मानुषरूप - का वर्णन हुआ है । सौम्य रूप को भगवान् का निज रूप माना

---

1. मानस - अयो. 253. 1-4
2. गीता 11 - विश्वरूपदर्शनयोग ।

गया है ।[1] उसके दर्शन से साधक का चित्त शांति प्राप्त करता है ।[2]

श्रीमद्भागवत में भगवान् की श्रीमूर्ति का सुन्दर वर्णन यत्र-तत्र मिल जाता है । श्रीमद् भागवत में भगवान् के वैष्णव रूप एवं भिन्न भिन्न अवतारों के रूप स्थान-स्थान पर चित्रित हुए हैं । नृसिंहावतार का उग्र रूप, वामन का सौम्य रूप, त्रिविक्रम का विश्वरूप, राम का सुन्दर रूप एवं श्रीकृष्ण का मोहन रूप श्रीमद् भागवत में चित्रित हैं । इन्हें पढ़कर भक्तों का हृदय मुग्ध हो जाता है । श्रीमद्भागवत के संग्रह नारायणीय में भगवान् के रूप का महत्व एक ही श्लोक में वर्णित हुआ है कि वह महिमामय, सम्मोहक, कान्तिपूर्ण, माधुर्ययुक्त, सुन्दर और आश्चर्यमय है । उसके कवि श्रीनारायण भट्ट पूछते हैं कि भगवान् का ऐसा रूप किसको आकृष्ट नहीं करेगा ?[3] ऐसे आकर्षक भगवद्रूप पर भक्तगण अत्यन्त आकृष्ट हो जाते हैं और वे भगवान् में रूपासक्तिरूपा भक्ति रखते हैं । श्रीमद्भागवत की गोपिकाओं में रूपासक्ति के सम्यक् दर्शन हमें प्राप्त होते हैं । गोपिकागीत में गोपियों की यह रूपासक्ति चरमदशा को प्राप्त हुई है

---

1. इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः ।
   आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ।। गीता ।।.50
2. दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन ।
   इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः ।। वही ।।.5।
3. यत् त्रैलोक्यमहीयसोऽपि महितं सम्मोहनं मोहनात्
   कान्तं कान्तिनिधानतोऽपि मधुरं माधुर्यधुर्यादपि ।
   सौन्दर्योत्तरतोऽपि सुन्दरतरं त्वद्रूपमाश्चर्यतोऽप्याश्चर्यं
   भुवने न कस्य कुतुकं पुष्णाति विष्णो विभो । ना. 2.3.

वहाँ वे कहती हैं कि दिन में जब कृष्ण वन में विहार करने के लिए चले जाते हैं तब उन्हें देखे बिना हमारे लिए एक एक क्षण युग के समान हो जाता है । जब कृष्ण, संध्या के समय लौटते हैं तब हम उनके घुँघराले अलकों से युक्त परम सुन्दर मुखारविन्द देखती हैं । उस समय पलकों का गिरना हमारे लिए भार रूप हो जाता है और ऐसा जान पडता है कि इन नेत्रों के पलकों को बनानेवाला विधाता मूर्ख है ।[1] श्रीमद् भागवत में कहा गया है कि भगवान् का रूप मन को आकर्षित करनेवाला तथा समस्त शोकों का नाश कर डालनेवाला है ।[2] इसलिए उसमें ध्यानयोग के प्रसंग में भगवान् के रूप का ध्यान ही निर्दिष्ट हुआ है ।[3]

नारदभक्तिसूत्रों में रूपासक्ति को भक्ति के ग्यारह भेदों में दूसरा गिनाया गया है । पहले, प्रथम अध्याय में व्रजगोपिकाओं का उदाहरण दिया गया है जो कृष्ण के रूप में आसक्त थीं । रूप गोस्वामी ने भगवद्ध्यान की परिभाषा देते हुए कहा है कि भगवान् के रूप का चिन्तन करना ध्यान है ।[4]

---

1. अटति यद्भवानह्नि काननम्
   त्रुटिर्युगायते त्वामपश्यताम् ।
   कुटिलकुन्तलं श्रीमुखं च ते
   जड उदीक्षतां पक्ष्मकृद्दृशाम् ।। भा. 10.31.15
2. रूपं भगवतो यत्तन्मनः कान्तं शुचापहम् । भा. 1.6.19
3. कीर्तन्यतीर्थयशसं पुण्यश्लोकयशस्करम् ।
   ध्यायेद्देवं समग्रांगं यावन्न च्यवते मनः ।। वही 3.28.18
4. ध्यानं रूपगुणक्रीडासेवादेः सुष्ठु चिन्तनम् । भ. र. सिं.

रामचरितमानस में रूपासक्ति को अत्यन्त ऊँचा स्थान दिया गया है । कवि को जब कभी श्रीराम के रूपवर्णन का अवसर मिलता है, वे उसका उपयोग करते हैं । उन्हें राम का शरीर "काम कोटि छबि स्याम" है । कौसल्या की गोद में खेलनेवाले श्रीराम का रूपवर्णन स्वयं तुलसीदास को रूपासक्त भक्त सिद्ध करनेवाला है ।[1] मानस के रूपासक्त भक्तों में मुख्यतः जनकपुर की महिलायें आती हैं । राजा जनक भी राम के रूपसौंदर्य पर मुग्ध होते हैं । रामजी की मधुर मनोहर मूर्ति को देखकर जनक विशेष रूप से विदेह बन गए ।[2] अर्थात् उस सौंदर्य राशि को देखकर वे देह की सुधबुध खो गए ।

मानस में सीता राम की प्रियतमा है । उसमें राम के रूप के प्रति अत्यन्त आकर्षण था । यह आकर्षण सबसे पहले तब पैदा हुआ जब जनकपुरी की पुष्पवाटिका में सीता ने राम का प्रथम दर्शन पाया था । उस समय की उनकी अवस्था कवि ने सुन्दर ढंग से चित्रित की है । सीता चकित होकर चारों ओर देख रही है । मन में इस बात की चिन्ता कर रही है कि राम कहाँ चले गए । तब सखियों ने लता की ओट में सुन्दर राम-लक्ष्मण युगल को दिखा दिया । श्रीराम की छवि देखकर सीता के नेत्र निश्चल हो गए । पलकों ने गिरना छोड दिया । अधिक स्नेह के कारण शरीर विह्वल हो गया । वे राम को ऐसे देख रही थी कि मानो शरद ऋतु के चन्द्रमा को चकोरी देख रही हो । नेत्रों के

---

1. कामकोटि छबि स्याम सरीरा । नील कंज बारिद गंभीरा ।
   अरुन चरन पंकज नख जोती । कमल दलन्हि बैठे जनु मोती ।।
   पीत झगुलिआ तनु पहिराई । जानु पानि बिचरनि मोहि भाई ।।
   रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा । सो जानइ सपनेहुँ जेहि देखा ।।

   मानस - बाल. 198.3,4

2. मूरति मधुर मनोहर देखी । भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी ।।

   मानस - बाल. 215.4

रास्ते श्रीराम को हृदय में लाकर जानकी ने पलकों के किवाड लगा लिए ।[1]
मानस में वर्णित रूपासक्ति का सबसे श्रेष्ठ उदाहरण यही है ।

पूजासक्ति

पूजा या अर्चन भक्ति का एक प्रमुख अंग है । जब किसी प्रेमी भक्त का प्रेम, पूजा या अर्चना के रूप में प्रकट होता है, तब वह पूजासक्ति भक्ति है । पूजा का एक विशाल अर्थ भी है । उसके अनुसार आदर भाव से प्रेरित होकर किसी के लिए किए जानेवाले सारे शारीरिक एवं मानसिक कर्म पूजा है ।[2] इस अर्थ में देखें तो भागवतोक्त नवधा भक्ति के अर्चन तथा वन्दन पूजासक्ति के अन्दर रखे जा सकते हैं ।

श्रीमद् भगवद्गीता के सातवें अध्याय में भगवान् ने अर्चना की ओर संकेत किया है ।[3] उसके बाद नवम अध्याय में पूजा का फिर उल्लेख

---

1. लोचन मग रामहि उर आनी । दीन्हे पलक कपाट सयानी ।। मानस. बाल. 232.4
2. Technically पूजा or worship means all those activities mental as well as physical, undertaken for satisfying a superior being on whom one feels a kind of reverence. Aphorisms on the Gospel of Divine love -Swami Thyageesananda P. 110
3. यो यो यां यां तनुंभक्तः श्रद्धयार्चितुतिच्छति ।
   तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ।। गीता 7.21

मिलता है ।[1] शांडिल्य ने अपने भक्तिसूत्र के एक सूत्र में पूजा के तत्व पर प्रकाश डाला है ।[2] इसमें गीता के एक श्लोक की ओर संकेत है ।[3] इस सूत्र के बाद चार सूत्र पूजा से संबंधित है ।[4]

नारदभक्तिसूत्रों के प्रथम अध्याय में ही नारद ने व्यास का मत उद्धृत करते हुए कहा है कि भक्ति, पूजा आदि में अनुराग है ।[5] पूजा आदि कहने से पूजा के अन्य अंग भी समाविष्ट होते हैं : जैसे अर्घ्य, पाद्य आदि । उन्होंने इस प्रकार की पूजा में होनेवाली आसक्ति को पूजासक्ति नाम देकर भक्ति के ग्यारह भेदों में सम्मिलित किया है ।

श्रीमद् भागवत में पूजा की विस्तृत चर्चा मिलती है । उसके एकादश स्कंध में उद्धव भगवान् से पूजा के बारे में जानने की इच्छा प्रकट करते हैं ।

---

1. येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।
   तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ।। गीता 9.23
2. तद्यजिः पूजायां इतरेषां नैवम् । शा. भ. सू. 66
3. यान्ति मद्याजिनोऽपिमां इत्यत्र यजिः किं प्रसिद्ध ज्योतिष्टोमादिविषयः किं वा पूजावचन इति । तत्रायं यजिः पूजायामेव प्रयुक्तः । वही - 66 पर स्वप्नेश्वर भाष्य ।
4. पादोदकं तु पाद्यमर्घ्योक्तैः ।। स्वयमर्पितं ग्राह्यमविशेषात् ।।
   निमित्तगुणाव्यपेक्षणादपराधेषु व्यवस्था ।। पात्रादेर्दानमन्यथा ॥ वही. 67-70
5. पूजादिष्वनुरागः इति पाराशर्यः । ना. भ. सू. 16.27.7

तब भगवान् वैदिक, तांत्रिक एवं मिश्र इन तीनों मार्गों से भगवान् की पूजा करने की विधि बताते हैं ।[1] पूरा अध्याय पूजा के विस्तृत वर्णन के लिए लगाया गया है । श्रीमद्भागवत के पूजासक्त भक्तों में अंबरीष सर्वप्रथम आता है । उनके बारे में कहा गया है कि उन्होंने अपने नेत्र मुकुन्दमूर्ति एवं मन्दिरों के दर्शन में, नासिका उनके चरणकमलों में अर्पित तुलसी के दिव्यगन्ध में और रसना भगवान् के प्रति अर्पित नैवेद्य-प्रसाद में संलग्न कर दिया था ।[2] अंबरीष के पैर भगवान् के क्षेत्र आदि की पैदल यात्रा करने में ही लगे रहते थे और सिर से वे भगवान् श्रीकृष्ण के चरणकमलों की वन्दना किया करते थे । राजा अंबरीष ने माला, चन्दन आदि भोग-सामग्री को भगवान् की सेवा में समर्पित कर दिया था ।[3] पूजासक्ति का सर्वांगीण चित्रण भागवतकार ने इस एक भक्त में किया है ।

रामचरितमानस में पूजासक्ति के अनेक उदाहरण आये हैं । श्रीराम के वन गमन के समय भरद्वाज मुनि को प्रेमसहित श्रीराम का पूजन करते

---

1. वैदिकस्तान्त्रिको मिश्र इति मे त्रिविधो मखः ।
   त्रयाणामीप्सितेनैव विधिना मां समर्चयेत् ।। भाग ।।.27.7
2. मुकुन्दलिंगालयदर्शने दृशौ
   तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम् ।
   घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे
   श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते ।। भाग 9.4.।
3. पादौ हरे क्षेत्र पदानुसर्पणे
   शिरो हृषीकेश पदाभिवन्दने ।
   कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया
   यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः ।। भाग 9.4.20

दिखाया गया है । वे श्रीराम की पूजा करके उनको अच्छे अच्छे कन्द, मूल, फल आदि देते हैं ।[1] पूजासक्ति के दूसरे उदाहरण के रूप में सुन्दरकाण्ड में विभीषण को प्रस्तुत किया गया है । हनुमान् देखते हैं कि उनके महल में भगवान् का एक अलग मन्दिर है । उनका महल राम के आयुधों के चिह्नों से अंकित था । वहाँ नवीन तुलसी के समूह थे ।[2] ये सब विभीषण की पूजासक्ति का परिचायक है । किन्तु पूजासक्ति का सर्वोत्तम उदाहरण भक्त-शिरोमणि भरत में मिलता है । जब वे श्रीराम से मिलकर चित्रकूट से विदा लेते हैं, तब भगवान् की पादुकाओं को भी अपने साथ ले जाते हैं । उन्होंने अयोध्या जाकर प्रभु पादुकाओं को सिंहासन पर बैठाया ।[3] उन्हें श्रीराम के प्रतिनिधि मानकर भरत उनकी पूजा करने लगे । उनका सारा जीवन एक तपस्वी की भाँति बन जाता है । वे एक पर्णकुटी में निवास करने लगते हैं और जटा जूट तथा वल्कल पहनते हैं । वे कुशासन पर बैठते हैं और कठिन ऋषि धर्म का अनुसरण करते हैं । वे नित्य प्रति प्रभु की पादुकाओं का पूजन करते हैं । उनके हृदय में प्रेम समाता नहीं है । पादुकाओं से आज्ञा माँग

---

1. कुसल प्रश्न करि आसन दीन्हे । पूजि प्रेम परिपूरन कीन्हे ।।
   कन्द मूल फल अंकुर नीके । दिए आनि मुनि मनहुँ अमी के ।। मानस. अयो. 107.
2. भवन एक पुनि दीख सुहावा । हरि मंदिर तहँ भिन्न बनावा ।।
   रामायुध अंकित गृह सोभा बरनि न जाई ।
   नव तुलसिका बृन्द तहँ देखी हरष कपिराई । मानस. सुन्दर. 5
3. सुनि सिख पाइ असीस बडि गनक बोलि दिनु साधि ।
   सिंघासन प्रभु पादुका बैठारे निरुपाधि ।। मानस - अयो - 323

मॉंगकर वे राज-काज करते हैं ।[1] भरत इस प्रकार चौदह वर्ष पूजासक्त बनकर जीवन बिताते हैं । वास्तव में उनके सारे कर्म अपने आराध्य राम की आराधना बन जाते हैं । पूजा की सर्वश्रेष्ठ अवस्था यही है कि जिसमें सब कर्म आराधनामय बन जाता है । "शिवमानसपूजा" स्तोत्र के अन्त में आचार्य शंकर ने इसी बात को व्यक्त किया है ।[2] सौंदर्य लहरी में भी समस्त कर्मों को पूजा के अंग बनाने की बात आयी है ।[3] भरत के समस्त कार्य कलाप पूजा रूप बन गये हैं, उनमें एक उत्तम पूजासक्त भक्त के दर्शन होते हैं ।

स्मरणासक्ति

अपनी उपासनामूर्ति का निरन्तर स्मरण भक्ति का सारसर्वस्व है । भक्ति के सारे भेदों में स्मरण का अंश अवश्य पाया जाता है । इसीलिए स्वामी विवेकानन्द ने कहा है कि समस्त शास्त्र प्रमाणों से ईश्वर-सेवा का अर्थ स्मरण है ।[4] श्रीमद्भगवद्गीता में स्मरण को सर्वप्रमुख स्थान दिया गया है ।

---

1. नित पूजत प्रभु पाँवरी प्रीति न हृदय समाति ।
   मागि मागि आयसु करत राज काज बहु भाँति ।। मानस-अयो-325
2. आत्मा त्वं गिरिजामतिः सहचराः प्राणाः शरीरं गृहम्
   पूजा ते विषयोपभोगरचना निद्रा समाधिस्थितिः
   संचारः पदयो प्रदक्षिणविधिः स्तोत्राणि सर्वागिरो
   यद्यत् कर्म करोमि तत्तदखिलं शंभो तवाराधनं । शिवमानस - पूजा - 4
3. जपो जल्पः शिल्पं सकलमपि मुद्राविरचना
   गतिः प्रादक्षिण्य क्रमणमशनाद्याहुति विधिः ।।
   प्रणामः संवेशः सुखमखिलमात्मार्पणदृशा
   सपर्यापर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम् ।। सौंदर्यलहरी - 26.
4. Service of the Lord means according to all the spiritual authorities, remembrance (Smarana): Complete works of Swami Vivekananda Vol.V.P.318

ग्यारहवें अध्याय भक्तियोग में श्रेष्ठभक्त को "मय्यर्पितमनोबुद्धिः"[1] अर्थात् मुझ परमात्मा में अर्पित मनबुद्धिवाला कहा गया है । परमात्मा में मनोबुद्धियों का समर्पण परमात्मा के स्मरण से ही संपन्न हो सकता है । इसी अध्याय में "मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय"[2] कहकर इस बात को अधिक स्पष्ट किया गया है ।

श्रीमद्भागवत की नवधाभक्ति में स्मरण का उल्लेख हुआ है । स्मरण के अनेकानेक उदाहरण भागवत के भक्ति प्रसंगों में आते हैं । भक्ति का लक्षण ही "मद्गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये मनोगतिरविच्छिन्ना"[3] है, अर्थात् ईश्वर के गुणों के श्रवण मात्र से अविच्छिन्न ईश्वर स्मरण है । भागवत के प्रथम वक्ता ब्रह्मा में स्मरणासक्ति के सुन्दर दर्शन होते हैं । वे कहते हैं कि मैं अपने हृदय में उत्कण्ठा के साथ भगवान् को धारण करता हूँ, इसलिए मेरे मन, कर्म अथवा वाणी कभी भी कुपथगामी नहीं होते हैं ।[4] स्मरणासक्ति का श्रेष्ठ उदाहरण गोपिकाओं में मिलता है । भगवान् स्वयं कहते हैं कि ये गोपिकाएँ मुझमें मग्न मनवाले थे ।[5] इसलिए उन्हें अपनी सुध बुध ही नहीं रह गयी थी । गोपिकाएँ तो सांसारिक जीवन बितानेवालीं थीं । उनकी एकमात्र प्रार्थना यह थी कि

---

1. गीता 12.14
2. गीता 12.5
3. भागवत 3.29.11
4. न भारती मेंऽग मृषोपलक्ष्यते न वै क्वचिन्मे मनसो मृषा गतिः ।
   न मे हृषीकाणि पतन्त्यसत्पथे यन्मे हृदौत्कण्ठ्यवता धृतो हरिः ।। भाग 2.6.33
5. ता ना विदन् मय्यनुषंगबद्ध -
   धियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् । भाग 11.12.12

भगवान् के योगिहृद्ध्येय पदकमल सदा हमारे मन में बने रहे ।[1] उद्धव ने गोपिकाओं के बारे में कहा है कि अपने मन को भगवान् में निरन्तर लगाये रखने से ये गोपिकायें कृतार्थ हो चुकीं हैं, लोकपूज्य बन गयीं हैं ।[2]

नारदभक्तिसूत्रों में भी भक्ति में स्मरण तत्व की प्रमुखता को रेखांकित किया गया है । प्रथम अध्याय में कहा गया है कि भक्ति में भगवान् का विस्मरण असहनीय पीडा पैदा करती है ।[3] तृतीय अध्याय में भक्तिसाधनाओं के अवसर पर अखण्ड भजन का उल्लेख करके इसी की ओर संकेत किया गया है ।[4] अन्तिम अध्याय में इसपर पुनः ज़ोर दिया गया है कि सदा, पूरे मन से, निश्चिन्त होकर केवल भगवान् का ही भजन करना चाहिए ।[5]

रामचरितमानस में स्मरणासक्ति रूपी भक्ति के यथेष्ट उदाहरण मिलते हैं । इसका सम्यक् दर्शन राम के वन गमन के बाद दशरथ में

---

1. आहुश्च ते नलिननाभ पदारविन्दं
   योगीश्वरैर्हृदिविभाव्यमचिन्त्यबोधैः ।
   संसारकूपपतितोत्तरणावलंबं
   गेहं जुषामपि मनस्युदियात्सदानः ।। भाग - 10.82.49
2. अहो यूयं स्म पूर्णार्थाः भवत्यो लोकपूजिताः ।
   वासुदेवे भगवति यासामित्यर्पितं मनः ।। वही 10.47.23
3. नारदस्तु तदर्पिताखिलाचारिता तद्विस्मरणे परमव्याकुलेतेति च । ना.भ.सू. 19
4. अव्यावृत्तभजनात् । वही 36.
5. सर्वदा सर्वभावेन निश्चिन्तैः भगवानेव भजनीयः । वही 79.

मिलते हैं । राम को वन भेजकर जब मंत्री सुमंत्र लौट आते हैं तब दशरथ उनसे राम की यात्रा की बातें पूछते हैं । राम के एक एक आचरण के बारे में सुनकर दशरथ उनकी स्मृति में डूब जाते हैं । सुमंत्र बताते हैं कि राम तमसा और गंगा के तट पर विश्राम करके चले थे । राम ने राजा दशरथ, गुरू वसिष्ठ, भाई भरत और प्रजाओं को जो संदेश दिये थे, वे भी सुमंत्र दशरथ को सुनाते हैं । ये सब सुनकर राजा दशरथ वियोगजन्य दुःख में डूबे जाते हैं । वे पूछते हैं कि कृपालु राम कहाँ है ? लक्ष्मण कहाँ है ? स्नेही राम कहाँ हैं ? मेरी प्रिय बहू जानकी कहाँ हैं ?[1] इन सब में दशरथ की स्मरणासक्ति अभिव्यक्त हुई है ।

स्मरणासक्ति के दूसरे उदाहरण भरत और सीता में प्रकट हुए हैं । भरत जब राम को वापस ले आने के लिए चित्रकूट में चले जाते हैं तब मार्ग में उनकी स्मरणासक्ति सम्यक् रूप से प्रकट हुई है । भरत निषाद राज गुह से हाथ मिलाकर चलते हैं और वे सारे स्थान देखते हैं जहाँ राम ने कुछ न कुछ किया हो । उन सभी स्थानों पर वे रामस्मृति में लीन होते हैं । सारे स्थानों के दर्शन के बाद राम का स्मरण करते हुए भरत डेरे की ओर लौटते हैं ।[2]

सीता में स्मरणासक्ति मुख्य रूप से दो संदर्भों में प्रकट हुई है । पहले, पुष्पवाटिका प्रसंग में जब राम से उनका प्रथम मिलन होता है तब वे राम

---

1. धरे धीरजु उठि बैठ भुआलू । कहु सुमंत्र कहँ राम कृपालू ।।
   कहाँ लखनु कहँ रामु सनेही । कहाँ प्रिय पुत्र वधू बैदेही ।। मानस 155.।
2. सखा बचन सुनि उर धरि धीरा ।
   बास चले सुमिरत रघुबीरा । मानस - अयो. 202.।

को हृदय में ले आती हैं, प्रेममय स्याही से अपने चित्तरूपी भित्ति पर राम का चित्र खींच लेती है ।[1] उसके बाद अशोकवाटिका में पति से अलग की गयी सीता राम स्मरण में लीन रहती है । यहाँ विरह व्यथा के कारण रामस्मरण ही उनका एकमात्र अवलंब बन जाता है । उनका शरीर दुबला हो गया है, सिर पर जटाओं की एक वेणी है । हृदय में राम के गुण समूहों का स्मरण है । उनके नेत्र अपने चरणों में लगे हुए हैं और मन श्रीराम के चरण कमलों में लीन है ।[2] ऐसी शोकपूर्ण अवस्था में अपनी राम-स्मरणासक्ति ही सीता को सहारा देती थी ।

दास्यासक्ति

भक्ति का एक प्रमुख भेद है दास्यासक्ति । इसका उल्लेख पंचधा एवं नवधा भक्ति में हुआ है । इसमें भक्त सेवक के रूप में सेव्य भगवान् की सेवा करता है । रूपगोस्वामी ने इस प्रकार के भक्तों को "सुतादय:" कहा है । यह इसलिए कि पुत्र पिता की सेवा जिस प्रकार करता है, उसी प्रकार दास भी स्वामी की सेवा करता है । यहाँ रामायण के दास्य भाव के प्रमुख भक्त लक्ष्मण को उनकी माता सुमित्रा ने जो उपदेश दिया था वह स्मरणीय है । वाल्मीकिरामायण में वन गमन की वेला में सुमित्रा लक्ष्मण को यह उपदेश देती है

---

1. परम प्रेममय मृदुमसि कीन्ही । चारुचित्त भीतीं लिख लीन्हीं ।।
मानस - बाल - 235.2

2. कृस तनु सीस जटा एक बेनी । जपति हृदयँ रघुपति गुनश्रेनी ।।
निजपद नयन दिए मन राम पद कमल लीन ।
परम दुखी भा पवन सुत देखी जानकी दीन ।। मानस-सुन्दर-8

कि तुम राम को पिता दशरथ मानो तथा सीता को माता ।[1]

इस प्रकार की दास्य भक्ति गीता में सम्यक् प्रतिपादित है । रूपगोस्वामी के "सुतादय:" में शिष्य भी आता है । गीता में अर्जुन शिष्य के रूप में भगवान् में शरणागत होते हैं ।[2] अन्त में "करिष्ये वचनं तव" कहकर वह एक दास के समान कृष्ण की आज्ञापालन के लिए तैयार होते हैं । ग्यारहवें अध्याय में अपने अपराधों के लिए क्षमायाचना करते समय अर्जुन भगवान् से प्रार्थना करते हैं कि जैसे पिता पुत्र का अपराध क्षमा करते हैं, वैसे आप मेरे अपराधों को क्षमा कीजिए ।[3]

श्रीमद् भागवत में अनेक स्थानों में दास्य भाव की भक्ति के दर्शन होते हैं । भगवान् के दासजन बन जाने की महत्ता भागवत में गायी गयी है । भागवत की यह प्रसिद्ध उक्ति है कि मेरे दास बन जाने पर राग-मोहों

---

1. रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनमात्मजाम् ।
   अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ।। वा. रा. अया. 40.9
2. कार्पण्यदोषोहत: स्वभाव: पृच्छामि त्वां धर्म संमूढचेता:
   यच्छ्रेयस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् । गीता. 2.8
3. तस्मात् प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमप्रमेयम् ।
   पितेव पुत्रस्य सखेव सख्यु: प्रिय: प्रियायार्हसि देव सोढुम् । वही ।।.44

का सहज ही नाश हो जाता है ।[1] दास्यासक्ति गोपिकाओं में यथेष्ट प्रकट हुई है । गोपिकाएँ अपने सारे कर्म कृष्ण के कैंकर्य के रूप में करती थीं । गोपिकागीत में वे स्पष्ट कहती भी हैं कि हम तो कृष्ण की किंकरियाँ हैं ।[2] दास्यासक्ति का अधिक स्पष्ट रूप कृष्ण के बालसखा सुदामा में परिलक्षित होता है । वे संसार से पूर्ण रूप से विरक्त थे । फिर भी उनके मन में कृष्ण के दास्य की कामना थी । द्वारकाधीश के दर्शन करके वापस अपने घर जाते हुए वे मन में विचार करते और प्रार्थना करते हैं कि मुझे जन्म जन्म में भगवान् का दास्य प्राप्त हो ।[3] यह एक विरक्त की प्रार्थना है जो केवल भक्ति में ही सुख पाते थे । अतः इसे दास्यासक्ति का सुन्दर उदाहरण मान सकते हैं ।

नारदभक्तिसूत्रों में एकादशधा भक्ति के अवसर पर ही नहीं, एक दूसरे स्थान पर भी दास्य भक्ति का उल्लेख हुआ है । चतुर्थ अध्याय के अन्तिम सूत्र में कहा गया है कि नित्यदास के रूप में भगवान् में प्रेम रखना चाहिए ।[4]

---

1. तावद्रागयः स्तेनास्तावत्कारागृहं गृहम् ।
   तावन्मोहोंऽघ्रिनिगडो यावत्कृष्ण न ते जनाः ।। भाग - 10.14.36
2. भज सखे भवत्किंकरीः स्म नो
   जलरुहाननं चारु दर्शय । भाग 10.31.6
3. तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनिजन्मनिस्यात् । भाग 10.81.38
4. त्रिरूपभंगपूर्वकं नित्यदासनित्यकान्ताभजनात्मकं प्रेम कार्यं प्रेमैव कार्यम् ।।
   ना. भ. सू. 66

रामचरितमानस में भक्ति के जिस रूप को सर्वाधिक महत्व दिया गया है वह दास्य भक्ति है । भरत, हनुमान, लक्ष्मण, सीता आदि में दास्यासक्ति का सर्वातिशायी प्राकट्य हुआ है । बालकाण्ड में धनुष यज्ञ के प्रसंग में सीता को यह विचार करता हुआ दिखाया गया है कि यदि मेरा चित्त श्रीराम चरणों में वास्तव में अनुरक्त है तो भगवान् मुझे श्रीराम की दासी अवश्य बनायेंगे ।[1] यह दास्यासक्ति सीता में बनी रहती है और वन-गमन के समय राम की सेवा में वन जाने के लिए उनको प्रेरित करती है । सीता कहती हैं कि मैं राम के पैर धोकर, पेड़ों की छाया में बैठकर मन में प्रसन्न होकर हवा करूँगी । समतल भूमि पर घास और पेड़ों के पत्ते बिछाकर यह दासी रात भर आप के चरण दबायेगी ।[2]

वन-गमन के बीच में गुह राम का साथ देता है । उनमें भी दास्यासक्ति कूट कूट कर भरी पड़ी है । वे कहते हैं कि मैं नाथ के साथ रहकर रास्ता दिखाकर चार दिन चरणों की सेवा करता रहूँगा । राम की आज्ञाओं का पालन करना उनकी मनोकामना है :

---

1. तन मन वचन मोर पन साचा । रघुपति पद सरोज चितु राचा ।।
   तौ भगवानु सकल उर बासी । करिहि मोहि रघुबर कै दासी ।
   मानस - बाल - 259.2,3
2. पाय पखारि बैठि तरु छाहीं । करिहउँ बाउ मुदित मन माहीं ।।
   श्रम कन सहित स्याम तनु देखें । कहँ दुख समउ प्रानपति पेखें ।।
   सम महि तृन तरु पल्लव डासी । पाय पलोटिहि सब निसि दासी ।।
   मानस - अयो. 67.2,3

नाथ साथ रहि पंथु देखाई । करि दिन चारि चरन सेवकाई ।।
जेहि बन जाइ रहब रघुराई । परन कुटी मैं करबि सुहाई ।।
तब मोहि कहँ जसि देब रजाई । सोइ करिहउँ रघुबीर दोहाई ।।[1]

भरत में भी आदि से अन्त तक दास्यासक्ति बनी रहती है । चित्रकूट में पहले वे राम को लौटाने का प्रयत्न करते हैं । अन्त में वे यह प्रयत्न छोड देते हैं । इस संदर्भ में वे कहते हैं कि कपट, स्वार्थ आदि दुर्गुणों तथा चारों पुरुषार्थों को छोडकर स्वाभाविक प्रेम के साथ स्वामी की सेवा करने की ही इच्छा मुझमें है । आज्ञा पालन ही सबसे बडी सेवा है ऐसा कहकर वे राम से आज्ञारूप प्रसाद माँगते हैं ।[2] आगे वे राम की आज्ञा का पालन करते हुए राम का पादुकादास बनकर राज्य-कार्य करते हैं ।

भरत के समान लक्ष्मण में भी दास्यासक्ति परिलक्षित हुई है । लेकिन लक्ष्मण की दास्यासक्ति राम की प्रत्यक्ष-सेवा में ही चरितार्थ होती है । इसलिए वे कभी भी राम का साथ नहीं छोडते हैं । वन-गमन प्रसंग में राम लक्ष्मण को अयोध्या में ही रहने का निर्देश देते हैं । तब लक्ष्मण कहते हैं कि मैं दास और आप स्वामी हैं । इसलिए आप मुझे छोड देते तो मेरा कोई वश नहीं है

---

1. मानस - अयो. 104.2,3
2. सहज सनेह स्वामि सेवकाई । स्वारथ छल फल चारि बिहाई ।।
   अग्या सम न सुसाहिब सेवा । सो प्रसादु जन पावै देवा ।। मानस. अयो. 301.
3. नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तजहु त काह बसाई । वही - अयो. 7।

इनके अलावा हनुमान, अंगद आदि अनेक अन्य पात्रों के द्वारा भी मानस में दास्य भक्ति के आदर्श खडे कर दिये गये हैं । इन सब में स्वयं गोस्वामी तुलसीदास का ही आदर्श अभिव्यक्त हुआ है । वे तो दास्य भक्ति के अनन्य समर्थक थे ।

सख्यासक्ति

सख्यासक्ति अथवा सख्यभक्ति भक्ति के भेदों में अत्यन्त प्रमुख है । जीवात्मा और परमात्मा को सखा मानने की परिपाटी अत्यन्त प्राचीन है । मुंडकोपनिषद् के एक मंत्र में ऐसा माना गया है कि जीवात्मा और परमात्मा दो सखा-पक्षी हैं जो एक ही वृक्ष में बसे हों ।[1] यह कल्पना भक्ति के क्षेत्र में भगवान् से घनिष्ठ संबंध स्थापित करने में सहायक होती है । वास्तव में भगवान् को अपना सखा मानकर उनसे जो संबंध स्थापित किया जाता है, उसमें घनिष्ठता होती है । इसलिए सख्य भक्ति का सर्वत्र बडा आदर होता है । महाभारत का अर्जुन, श्रीमद्भागवत का सुदामा, ग्वालबाल, उद्धव आदि सख्यभक्ति के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण हैं । महाभारत में अर्जुन को सदा कृष्ण के साथ सख्यभाव रखनेवाले के रूप में चित्रित किया गया है । कृष्ण को अपना सारथी बनाने तक में अर्जुन हिचकते नहीं । सख्यभाव की भक्ति में जो आत्मीयता है उसी का परिणाम है यह । श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् इस सखाभाव की खूब सराहना भी करते हैं । भगवान् अर्जुन के लिए योग रहस्यों का भी उद्घाटन करते हैं, क्योंकि अर्जुन उनका सखा भक्त है ।[2]

---

1. द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
   तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति । मुण्डक उप. 3.1.1
2. स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
   भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।। गीता 4.3

श्रीमद् भागवत की नवधा भक्ति में आत्मनिवेदन के ठीक पीछे सख्य को रखकर भागवतकार ने सख्यभक्ति की महत्ता व्यक्त की है । भागवतकार ने अन्य अनेक स्थानों में भी सख्य भक्ति की महत्ता को रेखांकित किया है । दशमस्कंध के वत्सस्तेय प्रसंग में जो विख्यात ब्रह्मस्तुति है, वहाँ सख्य भक्ति को खूब सराहा गया है ।[1] व्रजभूमि के सारे ग्वालबाल कृष्ण के सखा थे । दशम स्कंध के उत्तरार्ध में सुदामा का चरित्र है जो सखाभाव का सर्वश्रेष्ठ नमूना है । सुदामा भगवान् के सहपाठी थे । सान्दीपनी के आश्रम में भगवान् ने ब्रह्मचर्याश्रम बिताया था जहाँ सुदामा से उनकी मित्रता स्थापित होती है । बाद में भगवान् द्वारकाधीश बन गये और सुदामा एक दरिद्र गृहस्थ । फिर भी उनकी भक्ति में तनिक भी आँच नहीं आती है । सुदामा एक दिन अपने बाल सखा - अब द्वारकाधीश - के दर्शनों के लिए द्वारका पहुँचते हैं । वहाँ से अगले दिन वे खाली हाथ लौटते हैं । इसपर उन्हें दुःख नहीं होता है । उनकी एकमात्र इच्छा जनम-जनम में भगवान् की मैत्री प्राप्त करने की है ।[2]

नारदभक्तिसूत्रों में एकादशधा भक्ति में सख्यासक्ति को स्थान दिया गया है । भक्ति-रसामृतसिंधु में पंचधा भक्ति में सखा भक्तों का स्पष्ट उल्लेख है । इस प्रकार सारे भक्तिशास्त्र में सख्यभक्ति को ऊँचा दर्जा दिया गया है ।

---

1. अहो भाग्यमहोभाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम् ।
   यन्मित्रं परमानन्दं पूर्ण ब्रह्म सनातनम् ।। भाग - 10.14.32
2. तस्यैव मे सौहृदसख्यमैत्री दास्यं पुनर्जन्मनिजन्मनिस्यात् ।
   महानुभावेन गुणालयेन विषज्जतस्तत्पुरुषप्रसंगः ।। भाग 10.81

रामचरितमानस में सख्यासक्ति के श्रेष्ठ उदाहरण निषादराज गुह एवं वानरराज सुग्रीव में मिलते हैं । सख्यभक्ति में भक्त के मन में भगवान् के प्रति आदर के साथ साथ एक विलक्षण प्रकार की आत्मीयता भी बनी रहती है । निषाद राज गुह में ऐसा हुआ है । गंगा तट पर श्रृंगवेरपुर में निषादों के राजा गुह का निवास था । वनवास के लिए जाते समय श्रीराम को गंगा पार करनी थी । एक रात श्रीरामचन्द्र श्रृंगवेरपुर में ठहरे । भगवान् की दशा देखकर गुह अत्यन्त व्याकुल हुआ । गंगा पार करने के बाद श्रीराम के साथ वे कुछ दूर चले ।[1] दो एक दिन साथ रहकर उन्हें लौटना पडा । जब श्रीराम को मनाने के लिए भरत पूरे समाज के साथ चित्रकूट को चले तब उनके साथ सेना होने का समाचार पाकर निषादराज को संदेह हो गया । उन्हें शंका हुई कि वन में एकाकी श्रीराम का अनिष्ट करने के विचार से तो भरत सेना लेकर वन में नहीं जा रहे हैं ।[2] ऐसी शंका का होना स्वाभाविक था । वे भरत से लडने के लिए तय्यार होत हैं, पर एक वृद्ध की सलाह से पहले भरत से मिलने जाते हैं । जब भरत को पता लगा कि ये "रामसखा" है, वे रथ छोडकर उतर पडे । फिर भरत ने उन्हें हृदय से लगा लिया । वे भरत के साथ श्रीराम के पास पहुँचे और "पूज्य-सखा" से मिले । चित्रकूट से भरत के साथ निषादराज को भी लौटना पडा चौदह वर्ष के बाद जब श्रीराम सब लोगों को विदा करने लगे, तब निषाद राज से उन्होंने यह मार्मिक बात कही -

---

1. तब गनपति सिव सुमिरि प्रभु नाइ सुरसरिहि माथ ।
   सखा अनुज सिय सहित बन गवन कीन्ह रघुनाथ । मानस - अयो. 104
2. कारन कवनु भरत वन जाहीं । है कछु कपट भाउ मन माहीं ।।
   जौं पै जियँ न होत कुटिलाई । तौ कत लीन्ह संग कटकाई ।।
   मानस - अयो. 189.2

तुम मम सखा भरत सम भ्राता ।
सदा रहेहु पुर आवत जाता ।

गुह की सख्यभक्ति का इससे बडा प्रमाण - पत्र कहाँ होगा ?

मानस का दूसरा सखा भक्त वानरराज सुग्रीव हैं । उन्होंने तो अग्नि को साक्षी बनाकर श्रीराम के साथ विधिवत् मैत्री स्थापित की थी ।[2] उनकी भक्ति भी सख्य भक्ति का सुन्दर नमूना है ।

वात्सल्यासक्ति

वात्सल्यासक्ति में भक्त भगवान् को अपने द्वारा लालन-पालन के योग्य मानते हैं । वह यह उत्कण्ठा भी रखते हैं कि अपने अभाव में भगवान् की सुख-सुविधाओं में बाधा होगी । इस प्रकार की भक्ति मुख्य रूप से भगवान् के अवतार ग्रहण करते समय उनके माँ-बाप आदि गुरूजनों की ओर से होती है ।

श्रीमद् भागवत में वात्सल्य भक्ति के अनेक दृष्टांत मिलते हैं । भागवत के दशम स्कंध में कृष्णलीलाओं का वर्णन है । उसके पूर्वार्ध का अधिकांश भाग कृष्ण की बाललीलाओं के वर्णन से भरा पडा है । जन्म लेते ही कृष्ण को

---

1. मानस - उत्तर - 20.2
2. तब हनुमन्त उभय दिसि की सब कथा सुनाई ।
   पावक साखी देइ करि जोरि प्रीति दृढाई ।। मानस - कि. 4

पिता वसुदेव ने गोकुल में नन्दबाबा के घर में छोड दिया था । गोकुल एवं वृन्दावन में उनका बाल्य व्यतीत होता है । वहाँ यशोदा एवं नन्दबाबा अपना पुत्र मानकर उनका पालन पोषण करता था । उनमें कृष्ण के प्रति वात्सल्य भक्ति थी । पुत्र रूप में होने पर भी भगवान् की भगवत्ता का अक्सर उन्हें अनुभव होता था । फिर भी वे उनको अपने द्वारा पालन पोषण करने योग्य मानते थे, उनपर वात्सल्यासक्ति रखते थे । वात्सल्य रस की घनीभूत मूर्ति यशोदामाता सदा भगवान् को वात्सल्य रस का आस्वादन कराया करती थी ।[1] नन्दबाबा भी इसी प्रकार वात्सल्यातिरेक के साथ कृष्ण का पालन पोषण करते थे । वसुदेव और देवकी जब वर्षों बाद अपने पुत्र से मिलते हैं, तब उनके मन में वात्सल्य रस का उद्रेक होता है । श्रीमन्नारायणीय में इस प्रसंग में आया है कि ग्यारह वर्ष के अपने बेटे के समागमन का समाचार मिलने पर देवकी के स्तनों से दूध बहने लगा ![2] वात्सल्यासक्ति का यह सर्वाधिक मोहक नमूना है ।

वात्सल्यासक्ति का उल्लेख नारद भक्तिसूत्रों में एकादशधा भक्ति के अन्तर्गत हुआ है । भक्तिरसामृतसिंधु के पंचधा भक्ति में भी इसका उल्लेख हुआ है । वहाँ वात्सल्यासक्ति रखनेवाले भक्तों को "गुरुवर्ग" के अन्तर्गत रखा गया है ।

रामचरितमानस में राजा दशरथ और माता कौसल्या राम के वात्सल्य भक्त हैं । वे पूर्व जन्म में मनु और शतरूपा थे । उन्होंने भगवान् से

---

1. कल्याण - भक्तचरितांक - पृ. 222
2. आघोषानुभितत्वदागममहाहर्षोल्ललद्देवकी -
   वक्षोजप्रगलत्पयोरसभिषा त्वत्कीर्तिरन्तर्गता । नारायणीय - 74.7

यह वर प्राप्त किया था कि भगवान् उनके पुत्र के रूप में जन्म लेंगे । मनु ने भगवान् से स्पष्ट माँगा था कि आप के चरणों में मेरी वैसी ही प्रीति हो जैसी पुत्र के लिए पिता की होती है ।[1] मनु भगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त कर "सुत विषयक रति" अर्थात् वात्सल्य भक्ति का आस्वादन करने के लिए ही धराधाम में पधारे थे । दशरथ के चार पुत्र थे । चारों पुत्र उनको परम प्रिय थे ।[2] परन्तु इन सब में श्रीराम पर उनका विशेष प्रेम था । वे राम का अपनी आँखों से क्षण भर के लिए भी ओझल होना नहीं सह सकते थे । जब विश्वामित्रजी यज्ञरक्षार्थ श्रीराम-लक्ष्मण को माँगने आये उस समय दशरथ ने उनको अपने पास से हटाकर विश्वामित्र के साथ भेजने में बडी आनाकानी की । भगवान् को पुत्र रूप में प्राप्त करने पर दशरथ भगवान् के ऐश्वर्य और शक्ति भूल जाते हैं । यह वात्सल्य भक्ति में आवश्यक बात है भी । राजा दशरथ यह जानते थे कि उनके घर में भगवान् ने ही जन्म लिया है ।[3] फिर भी, जब विश्वामित्र राम और लक्ष्मण को यज्ञ की रक्षा के लिए ले जाना चाहते हैं तब दशरथ व्याकुल हो जाते हैं । वे कहते हैं कि राक्षस अत्यन्त घोर और कठोर है, मेरे पुत्र तो अत्यन्त कोमल हैं ।[4] इस प्रसंग में दशरथ एक वत्सल पिता के रूप में आये हैं, जो श्रीराम के ईश्वरीय भाव को भूल गये हैं । फिर भी उनकी वत्सलता ईश्वर के प्रति है अतः वह वात्सल्य भक्ति सिद्ध होती है ।

---

1. सुतविषयक तव पदरति होऊ । मानस - बाल- 151.3
2. सब सुत प्रिय मोहि प्रान की नाई । राम देत नहीं बनई गोसाई ।
   वही - 208.3
3. जाकर नाम सुनत सुभ होई । मोरे गृह आवा प्रभु सोई ।। मानस-बाल. 193.
4. कहँ निसिचर अति घोर कठोरा । कहँ सुन्दर सुत परम किसोरा ।
   वही - बाल. 208.3

श्रीराम के प्रेम के कारण ही दशरथ ने राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहा था । §वास्तव में राजा केकय के साथ कैकेयी पुत्र के राज्याभिषेक का शर्त हो चुकने[1] पर भी वे भरत के बदले राम को युवराज पद पर अभिषिक्त करना चाहते थे ।§ लेकिन कैकेयी की मति फिर जाने से राम को वन जाना पडता है । दशरथ ने तो राम का वियोग होते ही अपनी जीवनलीला समाप्त कर प्रेम की टेक रख ली । श्रीराम पर दशरथ की अनन्य वात्सल्य भक्ति का परिचय तो इसी से मिलता है कि जब तक राम सामने रहे, तब तक प्राणों को रखा और राम के बिछुडते ही राम प्रेमानल में अपने प्राणों की आहुति दे डाली ।

दशरथ के अलावा कौसल्या, सुमित्रा, कैकेयी आदि भी राम के प्रति वात्सल्यासक्ति रखनेवाले पात्र हैं । परन्तु वात्सल्यासक्ति का जो सर्वोच्च आदर्श दशरथ ने खडा किया है, वह बिलकुल निस्तुल है । तुलसीदास ने सच्चे प्रेम के लिए मछली का जल से जो प्रेम है उसे प्रस्तुत किया है । मछली एक क्षण के लिए भी जल से पृथक् होने पर अपना प्राणान्त कर देती है ।[2] वात्सल्य भक्त दशरथ भी इसी प्रकार के भक्त थे । वे तुलसी की दृष्टि के आदर्श भक्त हैं

कान्तासक्ति

भगवान् को अपना प्रियतम मानकर स्वयं भगवान् की

---

1. पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन् ।
   मातामहे समाश्रौषीत् राज्यशुल्कमनुत्तमम् ।। वा. रा. अयो. 107.3
2. दोहावली - दो. 398

प्रियतमा बन जाना और तदनुरूप भगवान् से प्रेम करना कान्तासक्ति भक्ति है । इसमें भगवान प्रियतम है और भक्त भगवान् की प्रेयसी । यहाँ यह नहीं आवश्यक है कि भक्त नारी ही हो । पुरुष भी अपने को भगवान् की प्रियतमा मानकर भगवान् से कान्तासक्ति रख सकते हैं । इसके अनेक उदाहरण इतिहास में प्राप्त होते हैं । श्रीचैतन्य महाप्रभु ने अपने शिक्षाष्टक में स्वयं को भगवान् की प्रियतमा मानकर प्राणनाथ भगवान् से कान्ताभाव प्रकट किया है ।[1] कान्ताभाव की भक्ति को रूपगोस्वामी ने प्रेयसी वर्ग की भक्ति बताया है । इसको मधुर भक्ति भी कहते हैं । माधुर्यभाव की यह भक्ति श्रृंगार प्रेम की भक्ति कही जा सकती है ।[2] लौकिक प्रेम के जितने रूप हो सकते हैं वे सभी मधुरभक्ति में आ जाते हैं । अन्तर केवल इतना है कि लोक से हटाकर उन्हें ईश्वर से जोड दिया जाता है । सभी संबंध परमात्मा से हो सकते हैं । लोकपक्ष में जिसे हम श्रृंगार कहते हैं, भक्ति पक्ष में यह मधुर भक्ति अथवा कान्तासक्ति कहलाती है ।

कान्ताभाव का उल्लेख श्रीमद् भगवद्गीता में एक जगह मिलता है । ग्यारहवें अध्याय विश्वरूपदर्शनयोग में अर्जुन भगवान् के विश्वरूप के दर्शन करते हैं । भगवान् का वास्तविक स्वरूप जानकर वे कहते हैं कि अनजान में मैं ने आपका जो अनादर किया है उसे आप क्षमा करें । यहाँ "पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम् ।" कहकर अर्जुन ने भगवान् और भक्त के

---

1. आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टुमा -
   मदर्शनात् मर्महतां करोतु वा ।
   यथा तथा वा विदधातु लंपटो
   मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ।। शिक्षाष्टक - 8
2. सूर और उनका साहित्य - हरवंशलाल शर्मा - पृ. 245

विभिन्न प्रकार के संबंधों का उल्लेख किया है । उनमें एक प्रिय और प्रिया का संबंध है । यहाँ कान्तासक्ति भक्ति बीज रूप में प्रकट हुई है ।

कान्तासक्ति का सर्वाधिक विशद वर्णन श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में मिलता है । दशम स्कन्ध के पूर्वार्ध में कृष्ण की व्रजलीलाएँ हैं और उत्तरार्ध में उनकी गार्हस्थ्य लीलाएँ है । व्रज की गोपिकाएँ और बाद की कृष्ण-पत्नियाँ श्रीकृष्ण की कान्तासक्त भक्त थीं । उनमें भी व्रजगोपिकाएँ ही अधिक उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करती हैं । गोपिकाओं के लिए श्रीकृष्णचन्द्र के अतिरिक्त अन्य कुछ रहा ही नहीं था । वे मन ही मन श्रीकृष्ण पर न्योछावर थीं । घर, माता-पिता, भाई-बन्धु, पति, सगे-संबंधी सब की ममता सिमटकर श्रीकृष्णचन्द्र में केन्द्रित हो गई । उन्होंने नन्दनन्दन को पति रूप में पाने के लिए कात्यायनी देवी की आराधना की थी ।[1] फिर भगवान् इनके साथ रासक्रीडा करते हैं । लेकिन श्रीमद् भागवत के अनुसार गोपिकाएँ कृष्ण की परिणीता नहीं थीं, कृष्ण से उनका प्रेम लौकिक दृष्टि से अवैध था । फिर भी उसे भक्ति का परमोत्कृष्ट उदाहरण माना गया है । नारद-भक्तिसूत्र में भक्ति का आदर्श ही गोपिकाओं की भक्ति हैं ।[2] नारद के अनुसार गोपिकाएँ भगवन्माहात्म्य को अच्छी तरह जानती थीं ।[3] फिर भी भगवान्से यह लौकिक दृष्टि से अवैध संबंध चित्रित करके भागवतकार ने भक्ति की तीव्रता ही प्रकट की है । स्वामी विवेकानन्द ने

---

1. कात्यायनि महामाये महायोगिन्यधीश्वरी ।
   नन्दगोपसुतं देवि पतिं मे कुरु ते नमः ।। भाग - 10.22.4
2. यथा व्रजगोपिकानाम् । ना.भ.सू - 21
3. तत्रापि न माहात्म्यज्ञानविस्मृत्यपवादः । वही - 22.

कान्तासक्ति पर प्रकाश डालते हुए यही राय प्रकट की है ।[1]

रामचरितमानस में कान्तासक्ति का एक ही उदाहरण है । वह है सीता की रामभक्ति । सीता कान्तासक्ति भक्ति के सभी माँगों को पूर्ण करनेवाली हैं ।[2] वस्तुतः सीता परब्रह्म भगवान् राम की आदि शक्ति हैं । फिर भी वे भगवान् राम का भक्त है और मन, कर्म एवं वचन से उनके चरणों में अनुरक्त हैं ।[3]

जनक की फुलवारी में राम से सीता का प्रथम-मिलन होता है । उसी समय वे राम के रूप पर मुग्ध हो जाती हैं । तब सीता का आनन्द इस प्रकार

---

1. Ay, the true spiritual lover does not rest even there, even the love of husband and wife is not mad enough for him. The Bhaktas take up also the idea of illegitimate love because it is so strong, the impropriety of it is not at all the thing they have in view.
   Complete Works of Swami Vivekananda - Vol.III - P.99
2. उद्भवस्थितिसंहारकारिणीं क्लेशहारिणीम् ।
   सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम् ।। मानस - बाल. श्लोक.5
3. मन क्रम बचन चरन अनुरागी । मानस - सु.31.2

का था जैसा कि किसी को अपनी निधि मिली हो ।[1] धनुष भंग करके राम सीता को जीत लेते हैं । भगवान् को पति रूप में प्राप्त करके सीता पतिभक्ति में लीन होती है । तदनन्तर सीता का हर आचरण एक पतिव्रता नारी का है । चूँकि भगवान् ही पति था, इसलिए यह उच्चकोटि की पति-भक्ति कान्तासक्ति रूपी भगवद् भक्ति का उत्कृष्ट नमूना बन गयी । राम के साथ वन चलने में यही भक्ति उनके लिए प्रेरक थी । जब रावण ने सीता को अपहृत करके अशोकवाटिका में बन्दिनी बना लिया, तब वे अहर्निश राम के ध्यान में मग्न होकर उनका नाम रटती रहती हैं ।[2] सीता की भक्ति की श्रेष्ठता इस से और भी व्यक्त होती है कि तुलसी ने उन्हें भक्ति का प्रतिरूप ही माना है और मानस के अनेक स्थानों पर उन्हें भक्ति से उपमित भी किया है ।[3]

आत्मनिवेदनासक्ति

आत्मनिवेदन से तात्पर्य है अपने को भगवान् के लिए पूर्णतः समर्पित करना । यह समर्पण भक्तिशास्त्र में विशद चर्चा का विषय बना है ।

---

1. हरषे जनु निज निधि पहिचाने । मानस - बाल - 231.2
2. नाम पहारू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट । मानस - सु. 30
3. अ. लसत मंजु मुनि मंडली मध्य सीय रघुचंदु ।
ग्यान सभा जनु तनु धरे भगति सच्चिदानन्दु ।। मानस - अयोध्या. 239
आ. सानुज सीय समेत प्रभु राजत परन कुटीर ।
भगति ग्यानु बैराग्य जनु सोहत धरें सरीर ।।
मानस. अयोध्या. 321

इसी को शरणागति या प्रपत्ति भी कहते हैं । उपनिषदों में भी इसका उल्लेख मिलता है । यह सच है कि उपनिषद् का लक्ष्य मोक्ष है । इसकी प्राप्ति के लिए ईश्वर में शरण लेना उपनिषद् ऋषियों के लिए अभीष्ट था । श्वेताश्वतरोपनिषद् में "मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये" कहकर इस समर्पण का परिचय दिया गया है ।[1] वाल्मीकिरामायण में विभीषण-शरणागति के प्रसंग में प्रपत्ति की चर्चा हुई है । भगवान् श्रीराम कहते हैं कि एक बार भी जो मेरे शरण में आकर "मैं तेरा हूँ" ऐसा कहता है, उसे मैं सुरक्षा प्रदान करूँगा ।[2]

श्रीमद्भगवद्गीता का मुख्य स्वर ही आत्मसमर्पण का है । अर्जुन भगवान् की शरण में आते हैं, तभी भगवान् गीता का उपदेश प्रारंभ करते हैं ।[3] गीता के उपदेशों में यत्र तत्र इस समर्पण पर बल दिया गया है ।

श्रीमद्भागवत में आत्मनिवेदन को सर्वोच्च स्थान दिया गया है । नवधा भक्ति की परिसमाप्ति आत्मनिवेदन में है । भागवत धर्म की

---

1. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
   तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।। श्वे. उ. 6.18.
2. सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
   अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ।। वा. रा. युद्धकाण्ड. 18.33
3. कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
   यच्छ्रेयस्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेहं शाधिमां त्वां प्रपन्नम् ।।
   गीता 2.7

चर्या के संबंध में समस्त कर्मों का भगवर्पण करने की बात आयी है ।[1] उद्धव को उपदेश देते समय स्वयं भगवान् ने आत्मनिवेदन के महत्व पर प्रकाश डाला है । सारे कर्मों का त्याग करके निवेदितात्मा बन जाने पर भक्त अमृतत्व का अधिकारी बन जाता है । यही भगवान् का मत है ।[2] श्रीमद् भागवत में आत्मनिवेदनासक्ति के अनेक दृष्टान्त हैं । इनमें प्रमुख महाबलि का है । असुर राजा बलि से भगवान् ने तीन पग भूमि का दान माँगा था । जब दो पगों में ही त्रिभुवन समाप्त हो गया, तब बलि तीसरा पग रखने के लिए अपना सिर ही भगवान् के आगे झुका दिया ।[3] यह आत्मनिवेदन की पराकाष्ठा है ।

नारद भक्तिसूत्रों में आत्मनिवेदनासक्ति को महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है । एकादशधा भक्ति में इसे रखा गया है । अन्य स्थलों पर भी ईश्वर के लिए समर्पित होने की बात आयी है । भक्तिसूत्रकार ने भक्त को "निवेदितात्मा" माना है ।[4]

रामचरितमानस में आत्मनिवेदनरूपा भक्ति के दो श्रेष्ठ उदाहरण हैं । एक है भरत का और दूसरा राक्षसराज विभीषण का । मानस के

---

1. कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुध्यात्मना वा प्रकृतेस्वभावात् ।
   करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत् ।। भाग ।।.2.36
2. मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
   तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै ॥ भाग ।।.29.34
3. पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् । भाग 8.22.2
4. लोकहानौ चिंता न कार्या निवेदितात्मलोकवेदशीलत्वात् । ना.भ.सू. 6।

भक्तों में भरत निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ है । यथार्थतः मानस में भरत ही एक ऐसे भक्त है जिनमें श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन इन नवों प्रकार की भक्तियों का समावेश है ।[1] आत्मनिवेदन उनके चरित्र का अंश है । बचपन से ही लेकर उनमें राम के प्रति समर्पित व्यक्तित्व दिखाई पडता है । भरत का प्रेमपूर्ण समर्पण और आत्मनिवेदनशील अयोध्याकाण्ड में सबसे उज्ज्वल रूप प्रकट हुआ है । उस निवेदितात्मा को अयोध्या का राज्य दिलाने का प्रयास करके कैकेयी ने कितनी मूर्खता की है ! भरत की राय में वह संपत्ति, घर, सुख, मित्र, माता, पिता, भाई, सब जल जाय, जो श्रीरामजी के चरणों के सम्मुख होने में प्रसन्नतापूर्वक सहायता न करे ।[2] वे राज्य राम को वापस लौटाने के लिए वन के लिए प्रस्थान करते हैं । वे अपने को अत्यन्त दीन हीन मानकर श्रीराम की शरण में जाते हैं । अयोध्या की सभा में अपने को श्रीराम के लिए समर्पित करते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि मैं अपराधी और सब अनर्थों का मूल हूँ फिर भी शरणागत मानकर राम मुझ पर कृपा करेंगे ।[3] आगे चित्रकूट से रामाज्ञा पाकर वे राज्य का शासन-भार संभालते है - लेकिन राम के प्रतिनिधि मात्र बनकर । राम पादुकाएँ मस्तक पर रखकर वे लौटते हैं ।[4] इन सबसे भरत की आत्मनिवेदनासक्ति स्पष्टतः प्रमाणित होती है ।

---

1. कल्याण भक्ति अंक. - पृ. 42।
2. जरउ सो संपति सदन सुखु सुहृद मातु पितु भाइ ।
   सनमुख होत जो राम पद करै न सहस सहाइ ।। मानस. अयो. 185
3. जद्यपि मैं अनभल अपराधी । मै मोहि कारन सकल उपाधी ।
   तदपि सरन सनमुख मोहि देखी । छमि सब करिहहि कृपा बिसेषी ।।
   वही - अयो. 183.2
4. प्रभु करि कृपा पाँवरी दीन्हीं । सादर भरत सीस धरि लीन्हीं ।।
   मानस - अयो . 316.2

मानस में आत्मनिवेदन का दूसरा सुन्दर उदाहरण रावण का अनुज विभीषण है । सुन्दरकांड में, रावण की सभा से प्रस्थान करके राम की शरण में आनेवाले विभीषण का अत्यन्त मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया गया है । वे राम को "सत्य संकल्प" मानकर उनकी शरण में जाने का अपना निर्णय बताते हैं ।[1] अपने कहे अनुसार वे श्रीराम के चरणों में आत्मनिवेदन करते हैं, दण्डवत् प्रणाम करते हैं ।[2]

तन्मयतासक्ति

तन्मयतासक्ति भक्ति की उच्चावस्था है । इसमें भक्त भगवान् की स्मृति में तन्मय हो जाते हैं, उसे भगवान् के सिवा अन्य किसी भी बात की सुध-बुध नहीं रहती । इस अवस्था को पाकर वे बाह्यजगत् और अपने शरीर को भूल जाते हैं ।

श्रीमद् भगवद्गीता में ऐसे भक्तों का उल्लेख मिलता है । दसवें अध्याय विभूतियोग में भगवान् कहते हैं कि मेरे भक्त "मद्गतप्राण" होते हैं और मेरे बारे में बोलते हुए सन्तुष्ट होते हैं ।[3] श्रीमद् भागवत में तन्मयतासक्ति

---

1. रामु सत्य संकल्प प्रभु सभा कालबस तोरी ।
   मैं रघुबीर सरन अब जाऊँ देहि जनि खोरी । मानस - सु. 4।
2. सुजसु सुनि आयउँ प्रभु भंजन भवभीर ।
   त्राहि त्राहि आरति हरन सरन सुखद रघुबीर ।।
   अस कहि करत दंडवत देखा । तुरत उठे प्रभु हरष बिसेषा ।। मानस - सु. 45, 46-1
3. मच्चित्ता मद्गतप्राणा: बोधयन्त: परस्परम् ।
   कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ।। गीता - 10.9

के अनेक उदाहरण मिलते हैं । प्रथम स्कन्ध में देवर्षि नारद के पूर्वजन्म का वर्णन है । पूर्वजन्म में वे एक दासी-पुत्र थे । साधु सेवा से उन्होंने भगवद्ध्यान की विधि समझ ली । एक विजन वन में जाकर वे भगवान् का ध्यान करने लगे । उस समय की अपनी अवस्था का वर्णन करते हुए नारद कहते हैं कि भक्ति-भाव से वशीकृत चित्त द्वारा भगवान् के चरणकमलों का ध्यान करते ही भगवत्प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा से मेरे नेत्रों में आँसू छल छला आये और हृदय में धीरे धीरे भगवान् प्रकट हो गये । उस समय प्रेमभाव के अत्यन्त उद्रेक से उनका रोम रोम पुलकित हो उठा । हृदय अत्यन्त शांत और शीतल हो गया । उस आनन्द की बाढ में वे ऐसे डूब गये कि उन्हें अपने और ध्येय वस्तु का तनिक भी भान नहीं रहा ।[1] तन्मयतासक्ति का दूसरा सुन्दर उदाहरण भक्तराज प्रह्लाद में है । इसका सर्वांगीण चित्रण भागवत के सप्तम स्कन्ध में हुआ है । प्रह्लाद बचपन में ही खेल-कूद छोडकर भगवान् के ध्यान में जडवत् तन्मय हो जाया करते थे । भगवान् श्रीकृष्ण ने उनके हृदय को इस प्रकार खींच लिया था कि उन्हें जगत् की कुछ सुध-बुध ही न रहती । इसलिए उन्हें सोते-बैठते, खाते-पीते, चलते-फिरते और बातचीत करते समय भी इन बातों का ध्यान बिलकुल न रहता । वे कभी-कभी रोते हैं, कभी-कभी हँसते हैं, कभी कभी गाते हैं और कभी कभी नाचते हैं । कभी-कभी वे भगवान् के चिन्तन में इतने तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें अपनी याद ही न रहती, वे भगवान् का ही अनुकरण करने लगते हैं ।[2] श्रीमद्भागवत में

---

1. ध्यायतश्चरणांभोजं भावनिर्जितचेतसा ।
   औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः ।।
   प्रेमातिभरनिर्भिन्न पुलकांगोतिनिर्वृतः ।
   आनन्दसंप्लवे लीनो नापश्यमुभयं मुने ।। भाग - 1.6.17,18
2. नदति क्वचिदुत्कण्ठो विलज्जो नृत्यति क्वचित् ।
   क्वचित्तद्भावनायुक्तस्तन्मयानुचकार ह ।। वही - 7.4.40

तन्मयतासक्ति का एक और उज्ज्वल दृष्टान्त है । वह है व्रज की गोपिकाएँ । रासपंचाध्यायी में गोपिकाओं की तन्मयतासक्ति का खूबसूरत वर्णन है । रासक्रीडा के बीच में भगवान् अन्तर्धान हुए तो गोपियाँ प्रलाप करती हुई भगवान् कृष्ण को ढूँढते ढूँढते कातर हो रही थीं । गाढ आवेश हो जाने के कारण वे भगवन्मय होकर भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करने लगीं । पूतनामोक्ष, शकट-भंजन, तृणावर्त-उद्धार, गोचारण, गोवर्द्धन-धारण, कालिय-दमन आदि कृष्ण लीलाएँ वे स्वयं करती हैं । इसका विशद वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है ।[1] एकादश स्कंध में स्वयं भगवान् उनकी तन्मयता की प्रशंसा करते हुए उद्धव से कहते हैं कि जैसे बडे बडे मुनि समाधि में स्थित होकर तथा नदियाँ समुद्र में मिलकर अपने नाम रूप खो देती है, वैसे ही गोपियाँ परम प्रेम के द्वारा मुझमें इतनी तन्मय हो गई थीं कि उन्हें लोक-परलोक, शरीर और अपने पति-पुत्रादि की भी सुधबुध नहीं रह गई थी ।[2]

नारद भक्तिसूत्रों में भी तन्मयतासक्ति को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है । एकादशधा भक्ति में इसे स्थान देने के अलावा अन्य स्थलों पर भी तन्मयता की चर्चा की गयी है । पंचम अध्याय में तन्मयभक्तों के प्रभाव पर प्रकाश डालते हुए भक्तिसूत्रकार ने कहा है कि तन्मय भक्त तीर्थों को सुतीर्थ, कर्मों को सुकर्म एवं शास्त्रों को सत् शास्त्र बना देते हैं ।[3]

---

1. भाग - 10.30.14-23
2. ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्धधियः स्वमात्मानमदस्तथेदम् ।
   यथा समाधौ मुनयोब्धितोये नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे ।। भाग ।।.12.12
3. तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि
   स्वच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि । तन्मयाः । ना.भ.सू. 69,70

रामचरितमानस में तन्मयतासक्ति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण सुतीक्ष्ण मुनि का है । सुतीक्ष्ण वन में आश्रम बनाकर तपस्या तथा भगवान् का भजन करते हुए भगवान् के आने की प्रतीक्षा कर रहे थे । वनवास के लिए आनेवाले श्रीराम शरभंग ऋषि के आश्रम से आगे बढे तो सुतीक्ष्ण को समाचार मिला । समाचार पाते ही वे राम की ओर दौड पडे । उनका चित्त भाव निमग्न हो गया । वे प्रेमानन्द में मग्न हो गये । पहले ही वे राम में इतने निष्ठावान् थे कि मनसा वाचा कर्मणा किसी अन्य की सेवा नहीं करते थे । तुलसी ने लिखा है कि उन्हें स्वप्न में भी किसी अन्य देवता पर विश्वास नहीं था ।[1] अब राम के आगमन की बात सोचकर वे अनेक प्रकार के मनोरथ करते हैं और राम के दर्शन के लिए आतुरता से दौडते हैं ।[2] बीच में प्रेम की इतनी बाढ हृदय में आती है कि मुनि अपने को भी भूल जाते हैं । वे रामस्मृति में इतना तन्मय हो जाते हैं कि उन्हें यह भी स्मरण नहीं होता कि मैं कौन हूँ, कहाँ हूँ, क्या कर रहा हूँ और कहाँ जा रहा हूँ । कभी वे कुछ आगे चलते, कभी खडे होकर "श्रीराम, रघुनाथ, कौसल्यानन्दन" आदि दिव्यनाम लेकर कीर्तन करते हुए नृत्य करते और कभी पीछे लौट पडते ।[3] नृत्य करते करते सुतीक्ष्ण के हृदय में श्रीराम की दिव्य झाँकी हुई । वे मार्ग में ही बैठकर ध्यानस्थ हो गये । उसी समय श्रीराम उनके पास आते हैं । वे मुनि को पुकारते हैं, हिलाते हैं और अनेक प्रकार से जगाने का प्रयत्न करते हैं । किन्तु वे भगवत्स्मृति में इतने तन्मय थे कि राम के सारे प्रयास विफल हो जाते हैं । अंत

---

1. मन क्रम बचन राम पद सेवक । सपनेहु आन भरोस न देवक ।।
   मानस - अरण्य - 10.1
2. प्रभु आगवनु श्रवन सुनि पावा । करत मनोरथ आतुर धावा ।। मानस-अर. 10.2
3. दिसि अरु बिदिसि पंथ नहिं सूझा । को मैं चलउँ कहाँ नहीं बूझा ।।
   कबहुँक फिरि पाछें पुनि जाई । कबहुँक नृत्य करइ गुन गाई ।। मानस.अर. 10.6

में उन्हें साधारण स्थिति में लाने के लिए राम को उनके हृदय से उनका इष्टरूप (भूपरूप) छिपाना पडता है और चतुर्भज रूप दिखलाना पडता है ।[1] राम के द्विभुज राजा रूप में सुतीक्ष्ण की तन्मयता इस प्रसंग से खूब स्पष्ट होता है ।

परमविरहासक्ति

परमविरहासक्ति विलक्षण प्रकार की भक्ति है । इसमें भगवान् के विरह से उत्पन्न पीडा के कारण भगवत्-स्मृति अधिक तीव्र हो जाती है । फलतः इस प्रकार की भक्ति में भक्त के मन में उत्कट प्रेम और मिलनाकांक्षा होती है । यह भक्ति की उच्चतम स्थिति है । अतएव भक्तिसूत्रकार ने भक्ति के ग्यारह भेदों में सबसे अंत में ही इसको रखा है ।

परमविरहासक्ति भक्ति का लोकोत्तर उदाहरण व्रज की गोपियाँ हैं । श्रीमद् भागवत में अनेक स्थानों में गोपियों की इस अवस्था का वर्णन मिलता है । रासक्रीडा के बीच भगवान् अन्तर्धान होते हैं तो गोपियों की दशा अत्यंत मर्मभेदी हो जाती है । वे भगवान् को पुकार पुकारकर सारे वन में घूमते फिरते हैं । भगवद् विरह में उनकी अवस्था पागल की सी होती है और वे वृक्षलताओं तथा पक्षिमृगादियों से भी भगवान् को दिखा देने की प्रार्थना करती हैं ।[2] तदनंतर वे भगवत्स्मृति में तन्मय हो जाती हैं और भगवान् की लीलाओं का अनुकरण करने लगती हैं । अन्त में उनकी पुकार सुनकर नंदनंदन मन्मथमन्मथ रूप में

---

1. मुनिहि राम बहु भाँति जगावा । जाग न ध्यान जनित सुख पावा ।।
   भूप रूप तब राम दुरावा । हृदय चतुर्भुज रूप देखावा ।। मानस. अर. 10.9
2. पप्रच्छुराकाशवदन्तरंबहिर्भूतेषु सन्तं पुरुषं वनस्पतीन् । भाग 10.30.4

उनके सामने आविर्भूत होते हैं । विरह की वेला में उनकी भगवत्स्मृति एवं मिलनोत्कण्ठा चरमावस्था में पहुँच गई थी । भगवान् प्रत्यक्ष होने पर उनसे कहते भी हैं कि स्मरण की दृढ़ता के हेतु ही मैं आप लोगों से अलग हुआ था । भगवान् कहते हैं कि जैसे निर्धन पुरुष को कभी बहुत-सा धन मिल जाय और फिर खो जाय तो उसका हृदय खोये हुए धन की चिन्ता से भर जाता है, वैसे ही मेरे स्मरण की दृढ़ता के लिए मैं भी मिल मिलकर छिप जाता हूँ ।[1]

अक्रूर के साथ भगवान् मथुरा जाते हैं और कंसवध के बाद वहीं रहने लगते हैं । इस पर गोपियों का विरह अनन्त-सा हो गया । भगवान् की अखंड एवं तीव्र स्मृति में ही वे समय काटती थीं । फिर भगवान् उद्धव को दूत बनाकर भेजते हैं । उद्धव गोपियों को कृष्ण का सन्देश देते हैं । वहाँ भी कृष्ण कहते हैं कि विरह में भगवत्स्मृति अधिक तीव्र हो जाती है । कृष्ण कहते हैं कि शरीर से दूर रहने पर भी तुम (गोपियाँ) मन से मेरी सन्निधि का अनुभव करें, इसी उद्देश्य से मैं तुमसे दूर रहता हूँ । प्रेमियों का चित्त अपने परदेशी प्रियतम में जितना निश्चल भाव से लगा रहता है, उतना आँखों के सामने, पास रहनेवाले प्रियतम में नहीं लगता ।[2]

---

1. नाहं तु सख्यो भजतोऽपि जन्तून्
   भजाम्यमीषानुवृत्तिवृत्तये ।
   यथाऽधनो लब्धधने विनष्टे
   तच्चिन्तयान्यन्निभृतो न वेद । भाग 10.32.20
2. यत्त्वहं भवतीनां वै दूरे वर्ते प्रियो दृशाम् ।
   मनसः सन्निकर्षार्थं मदनुध्यानकाम्यया ।।
   यथादूरचरे प्रेष्ठे मन आविश्य वर्तते ।
   स्त्रीणां च न तथा चेतः सन्निकृष्टेक्षिगोचरे ।। भाग 10.47.34-35

चैतन्य महाप्रभु, लीलाशुक जैसे भक्तों ने भी भगवद्विरह में तड़पते समय की अपनी तीव्र भगवत्स्मृति का वर्णन किया है । विरहावस्था में चैतन्य महाप्रभु को सारा जगत् सूना लगता था और उनकी आँखें निरन्तर आँसू बहती थीं ।[1] लीलाशुक भी कृष्ण के अदर्शन के कारण दिन काटने में असमर्थ होकर[2] भगवत्स्मृति को ही एक मात्र सहारा बनाते हैं ।[3]

परमविरहासक्ति रूपी भक्ति के अनेक उत्कृष्ट उदाहरण रामचरितमानस में पाये जाते हैं । राम-वन-गमन के बाद के भरत, दशरथ तथा अशोक वनवासिनी सीता आदि विरह में होनेवाली तीव्र भगवत्स्मृति के उदाहरण प्रस्तुत करते हैं । भरत में परमविरहासक्ति सर्वांगीण रूप में प्रकट हुई है । केकय से अयोध्या आनेवाले भरत को राम का स्मरण करते हुए नहीं दिखाया गया है । परन्तु अयोध्या में आकर राम के वन-गमन की खबर सुनने के बाद वे संपूर्णतः रामस्मृति में डूब जाते हैं । रघुनाथ के बिना वे अपना सब कुछ व्यर्थ मानते हैं ।

---

1. युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्
   शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्दविरहेण मे । शिक्षाष्टक - 7
2. अमून्यधन्यानिदिनान्तराणि हरे त्वदालोकनमन्तरेण
   अनाथबन्धो करुणैकसिंधो हा हन्त ! हा हन्त ! कथं नयामि ।
   श्रीकृष्णकर्णामृत - 1.41
3. हे देव हे दयित हे जगदेकबन्धो हे कृष्ण हे चपल हे करुणैकसिन्धो ।
   हे नाथ हे रमण हे नयनाभिराम हा हा कदा नु भवितासि पदं दृशोर्मे ।।
   वही - 1.40

राज सभा में उनकी स्पष्ट घोषणा है कि राम, लक्ष्मण और सीता के बिना इस राज्य का कोई मूल्य नहीं है ।[1] वे राम को लौटाने के लिए वन चलते हैं । राम विरह में उनकी स्मृति सदा राम पर केन्द्रित है । लेकिन जब राम लौटने से इनकार करते हैं, तो वे रामाज्ञा मानकर राज्यशासन का भार अपने ऊपर ले लेते हैं । फिर चौदह वर्ष के उनका नन्दिग्राम वास है । तुलसी ने मानस में उसका जो वर्णन किया है, उससे भगवद् वियोग में भरत की स्थिति का वास्तविक चित्र उपस्थित होता है । भरत नन्दिग्राम में पर्णशाला बनाकर अपनी ऐकान्तिक प्रेम साधना में तल्लीन हो जाते हैं । चौदह वर्षों के विरह को भरत ने परमविरहासक्ति रूपी भक्ति में परिणतकर कैसी अवस्था प्राप्त की थी, उसे तुलसीदास के ही शब्दों में देखिए -

पुलक गात हिय सिय रघुवीर । जीह नामु जपु लोचन नीरू ।।[2]

मानस में परमविरहासक्ति का दूसरा उदाहरण अशोक वनवासिनी सीता में मिलता है । सीता पति-विरहिणी थी, परन्तु भगवान् ही पति थे, अतः यह लौकिक विरह न होकर भगवद् विरह बन जाता है । उस समय सीता ने एकमात्र रामस्मृति को ही सहारा बनाकर प्राण धारण किये थे । वे अहर्निश राम के ध्यान में मग्न होकर उनका नाम रटती रहती है ।[3] इस प्रकार विरह की अवस्था में भी पूर्ण रूप से भगवान् राम के प्रति अर्पित होकर उनकी स्मृति में लीन रहनेवाली सीता की भक्ति भी परमविरहासक्ति का सुन्दर नमूना प्रस्तुत करती है ।

---

1. लोक समाजु राजु कहि लेखें । लखन राम सिय बिनु पद देखें । मानस - अयो. 178.2

2. मानस - अयोध्या - 326.1

3. नाम पहारू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट । मानस. सुन्द. 30

गौणी भक्ति के भेद

गौण शब्द का शब्दिक अर्थ है गुणों से संबंधित ।[1] इसका प्रचलित अर्थ है अप्रधान । भक्ति के भेदों में पहले पराभक्ति की चर्चा हुई । यह मुख्य भक्ति है । श्रीमद् भागवत के तृतीय स्कंध में निर्गुण भक्ति और त्रिगुणों से प्रभावित भक्ति का वर्णन किया गया है । त्रिगुणों से प्रभावित भक्ति गौणी भक्ति है । यह गौणी शब्द के अर्थ से ही स्पष्ट है । इस अर्थ के अलावा गौणी भक्ति का दूसरा अर्थ है मुख्य भक्ति से इतर भक्ति ।[2]

पराभक्ति में भक्त भगवान् से परम प्रेम करते हैं । लेकिन गौणी भक्ति में स्थिति इससे भिन्न है । गौणी भक्ति में भक्त को भगवान् का परम प्रेम प्राप्त नहीं हुआ है । वह किसी बाह्य प्रेरणा से भक्ति का अभ्यास करता है । इसका विवेचन श्रीमद्भगवद्गीता, शाण्डिल्य एवं नारद के भक्तिसूत्र, श्रीमद् भागवत, भक्तिरसामृतसिन्धु जैसे ग्रंथों में सूक्ष्मता के साथ किया गया है । गौणी भक्ति के भेदों का शांडिल्य और नारद ने उल्लेख किया है । गौणी भक्ति को शांडिल्य ने पराभक्ति का अंग माना है ।[3] नारदभक्तिसूत्रों में गौणी भक्ति का विभाजन दो आधार पर किया गया है । दोनों में तीन भेद भी प्रस्तुत किए गए हैं । इस प्रकार कुल मिलाकर छः प्रकार हो गए हैं । यह विवेचन चतुर्थ अध्याय

---

1. "विष्णुसहस्रनाम" ।3 पर शंकरभाष्य ।
2. The word मुख्य or primary distinguishes the devotion of Supreme stage from the Gauna or Secondary devotion . Narada Bhakti Sutras - Swami Tyageeshananda - P.21
3. या गौणभक्तय: श्रुतास्ता: परभक्त्यंगानि भवन्ति ।
   शा. सू. 58 पर स्वप्नेश्वर भाष्य ।

में हैं जहाँ आया है कि गौणी भक्ति आर्त आदि भेद से तथा गुणों के भेद से तीन-तीन प्रकार की होती हैं । अर्थात् गुणों के भेद से तीन और आर्त आदि भेद से तीन । तीन गुण हैं - तमोगुण, रजोगुण एवं सत्वगुण । इसलिए गुणों के आधार पर गौणी भक्ति के तीन भेद होंगे - तामस भक्ति, राजस भक्ति एवं सात्त्विक भक्ति । इनके स्वरूप और लक्षण श्रीमद्भागवत के कपिलोपदेश में विशद रूप से मिलते हैं । आर्त आदि भेद से गौणी भक्ति के जो तीन भेद हैं, वे हैं, आर्त भक्ति, अर्थार्थी भक्ति तथा जिज्ञासा भक्ति । ये भेद श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय के 16 वें श्लोक के आधार पर हैं । उस श्लोक में यद्यपि चार प्रकार के भक्तों का उल्लेख हैं, फिर भी चौथा जो है - ज्ञानी - उसे नारदभक्ति-सूत्रकार ने गौणीभक्ति के अंदर नहीं रखा है । इसप्रकार गौणी भक्ति के छः प्रकार होंगे - तामस भक्ति, राजस भक्ति, सात्त्विक भक्ति, आर्त भक्ति, अर्थार्थी भक्ति और जिज्ञासा भक्ति ।

अब गौण भक्ति के इन छहों प्रकारों के उदाहरण रामचरितमानस में दिखाये जायेंगे ।

तामस भक्ति

त्रिगुणों के प्रभाव में आकर की जानेवाली भक्ति के तीनों भेद श्रीमद् भागवत के तृतीय स्कंध के उन्नीसवें अध्याय में बताये गये हैं । उसके अनुसार हिंसा या दिखावे के लिए मत्सर और क्रोध के साथ भगवान् में मन लगाना तामस भक्ति है ।[1]

---

1. अभिसंधाय यो हिंसां दंभं मात्सर्यमेव वा ।
संरंभी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः ।। भाग.3.29.7

रामचरितमानस में दूसरों के नाश के लिए भगवान् में भक्ति दिखाने का सबसे अच्छा दृष्टान्त कालनेमि का है । लंकाकाण्ड में कालनेमि का चरित्र है । युद्ध में लक्ष्मण को शक्ति लग जाती है । तब हनुमान् संजीवनी लाने के लिए प्रस्थान करते हैं । इधर रावण के अनुरोध पर उसका अनुचर कालनेमि हनुमान् के मार्ग पर उन्हें भटकाने के लिए माया रचते हैं । तालाब, मन्दिर और सुन्दर बाग बनाकर एक आश्रम में कालनेमि मुनि का वेष धारण करके बैठते हैं । हनुमान् उनसे मिलते हैं तो वह राम के गुण गाने लगते हैं ।[1] हनुमान् के कार्य में विलम्ब लाने के लिए वे हनुमान् को दीक्षा देने तक की तैयारियाँ करते हैं ।[2] अन्त में हनुमान् सब रहस्य समझ लेते हैं और उन्हें मार डालते हैं । कालनेमि हिंसा के लिए दंभ और द्वेष के साथ भक्ति का ढोंग रचता था । इसलिए यह तामस भक्ति है । नारदभक्तिसूत्रों की मान्यता[3] के अनुकूल इस तामस भक्त को भी बाद में प्रगति होती दिखाई गई है ।[4]

राजस भक्ति

राजस भक्ति का लक्षण है - विषयों का भोग, यश या ऐश्वर्य

---

1. राच्छस कपट बेष तहँ सोहा । मायापति दूतहि चह मोहा ।।
   जाइ पवनसुत नायउ माथा । लाग सो कहै राम गुन गाथा ।। मानस. लं. 57.2
2. सर मज्जन करि आतुर आवहु । दिच्छा देउँ ग्यान जेहिं पावहु ।।
   वही - लं. 57.4
3. उत्तरस्मादुत्तरस्मात् पूर्वपूर्वा श्रेयाय भवति । ना. भ. सू. 57
4. राम राम कहि छोडसि प्राना । सुनि मन हरषि चले हनुमाना ।।
   मानस. लं. 58.3

की प्राप्ति के लिए भगवान् की उपासना करना ।[1] रामचरितमानस में इस प्रकार की भक्ति का उदाहरण मुख्य रूप से रावण में मिलता है । रावण की भक्ति ब्रह्माजी के प्रति थी । इसका वर्णन मानस के बालकांड में मिलता है । उन्होंने अपने भाइयों के साथ अत्यन्त कठिन तपस्या की जिसका वर्णन नहीं हो सकता । उनका ऐसा उग्र तप देखकर ब्रह्माजी को उनके पास जाना पडा ।[2] ब्रह्मा से रावण जो वर माँगते हैं वह उनकी भक्ति की राजस प्रकृति स्पष्ट करनेवाली हैं । रावण वर माँगते हैं कि वानर और मनुष्य इन दोनों को छोडकर हम और किसी के मारे न मरें ।[3] इस वर के प्रभाव से देवताओं को भी परास्त करके वे विषय भोगों में रमे रहते हैं ।[4] इससे स्पष्ट है कि उनकी सारी तपस्या एवं उपासना केवल ऐश्वर्य तथा विषयों के लिए थी । इसलिए रावण की उपासना राजसी भक्ति की कोटि में आती है ।

---

1. विषयानभिसंधाय यश ऐश्वर्यमेव वा ।
   अर्यादावर्यायेद् यो मां पृथग्भाव: स राजस: ।। भाग. 3.29.8
2. कीन्ह बिबिध तप तीनिहुँ भाई । परम उग्र नहिं बरनि सो जाई ।।
   गयउ निकट तप देखि विधाता । मागहु वर प्रसन्न मैं ताता ।।
   मानस - बाल- 167.1
3. करि बिनती पद गहि दस सीसा । बोलेउ बचन सुनहु जगदीसा ।।
   हम काहू के मरहि न मारे । बानर मनुज जाति दुइ बारें ।।
   मानस - बाल - 167.2
4. भुजबल बिस्व बस्य करि राखेसि कोउ न सुतंत्र ।
   मंडलीक मनि रावन राज करई निज मंत्र ।।
   देव जच्छ गंधर्व नर किंनर नाग कुमारि ।
   जीति बरीं निज बाहुबल बहु सुन्दर बर नारि ।।
   मानस - बाल - 182 क.ख.

सात्त्विक भक्ति

सात्त्विक भक्ति वह है जिसमें भक्त का उद्देश्य या तो पाप कर्मों से निवृत्ति है अथवा कर्तव्य पालन है ।[1] यहाँ स्वाभाविक राग न होने पर भी केवल शास्त्र की आज्ञा के बल से ही भक्त भगवान् का भजन करते हैं । भक्तिरसामृतसिंधु में इसे वैधी भक्ति कही गयी है ।[2] सात्त्विक भक्ति श्रेष्ठ है, इसमें सन्देह नहीं है ।[3] मनुष्य का लक्ष्य ही सात्त्विक भावों का उपार्जन है । श्रीमद् भागवत में भगवान् ने सात्त्विकता की सेवा से सत्व गुण की वृद्धि कराने का आदेश भी दिया है ।[4] श्रीमद्भगवद् गीता में भी सात्त्विक प्रकृतिवालों को ऊर्ध्वगामी कहकर उनकी श्रेष्ठता सिद्ध की गयी है ।[5] फिर भी सात्त्विक स्थिति को भी पार करके गुणातीत बन जाना ही गीताचार्य के लिए अभीष्ट है ।[6] श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कंध में निर्गुण भक्ति को सात्त्विक भक्ति के भी ऊपर

---

1. कर्मनिहारमुद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणम् ।
   यजेद् यष्टव्यमिति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः ।। भाग. 3 - 29.9
2. यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते ।
   शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधी भक्तिरुच्यते ।। भ. र. सिं. 1.2.3,4
3. मानव जीवन का लक्ष्य - सात्त्विक भावों का उपार्जन - पं. श्री. विनयकुमारजी
   लेख - कल्याण - नवंबर 1994.
4. सात्त्विकान्येव सेवेत पुमान् सत्वविवृद्धये ।
   ततो धर्मस्ततो ज्ञानं यावत्स्मृतिरपोहनम् ।। भाग. 11.13.6
5. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्थाः मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
   जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ।। गीता - 15.18
6. त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।
   निर्द्वन्द्वो नित्यसत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ।। वही - 2.45

रखकर इस बात की पुष्टि की गई है ।[1]

रामचरितमानस में पापनिवृत्ति के उद्देश्य से की जानेवाली सात्त्विक भक्ति का एक उदाहरण अहल्या का है । तुलसी ने अत्यन्त संक्षेप में उसकी कथा प्रस्तुत की है । अपने पातिव्रत्य से च्युत होने के कारण पति के अभिशाप वश वह पत्थर रूप में परिणित हो गई थी । महर्षि विश्वामित्र के साथ धनुष यज्ञ देखने के लिए जाते समय गौतमनारी की सारी कथा सुनाते हुए विश्वामित्र कहते हैं कि वे राम का चरण-कमल-रज चाह रही हैं ।[2] वे धीरज के साथ राम की प्रतीक्षा कर रही हैं, अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए। यह सात्त्विक भक्ति का सुन्दर उदाहरण है ।

आर्त भक्ति

आर्ति शब्द का अर्थ है दारुण दुःख । आर्ति से पीडित होने पर जो भगवान् का आश्रय लेता है वे आर्तभक्त हैं । श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय में आर्त भक्त का उल्लेख मिलता है । भाष्य में आचार्य शंकर कहते हैं कि

---

1. मद्गुण श्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
   मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगांभसोंऽबुधौ ।।
   लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम् ।
   अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।। भाग. 3.29.11,12
2. गौतम नारि श्राप बस उपल देह धरि धीर ।
   चरन कमल रज चाहति कृपा करहु रघुबीर ।। मानस - बाल. 210

चोर, व्याघ्र, बीमारी आदि से पीडित होने के कारण जो भगवद् भजन करते हैं, वे आर्त भक्तों की कोटी में आते हैं ।[1] श्रीमद् भागवत में आर्त भक्तों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण गजेन्द्र का है । वे पूर्वजन्म में इन्द्रद्युम्न नामक पाण्ड्य राजा थे और अगस्त्य के शापवश हाथी बन गये थे । एक सरोवर में क्रीडा करते समय उन्हें ग्राह ने पकड लिया । तब आर्त होकर वे भगवान् को पुकारने लगे ।[2]

रामचरितमानस में आर्त भक्ति का उदाहरण सुग्रीव में दिखाई पडता है । सुग्रीव विश्वविश्रुत योद्धा किष्किन्धाधिपति बालि का अनुज है । अपने अग्रज से प्रताडित सुग्रीव को ऋष्यमूक पर्वत पर जाकर रहना पडा था क्योंकि वही एक स्थान है जहाँ बालि पहुँच नहीं सकते हैं । उसी ऋष्यमूक में राम सुग्रीव से मिलते हैं । तब सुग्रीव राम को अपनी दुःख कहानी सुनाते हैं, जो उनकी करुणाजनक आर्त अवस्था का मर्मस्पर्शी परिचय देती है । सुग्रीव कहते हैं कि बालि ने मुझे शत्रु के समान बहुत अधिक मारा और मेरा सर्वस्व तथा मेरी स्त्री को भी छीन लिया । मैं उसके भय से समस्त लोकों में बेहाल होकर फिरता रहा । शाप के कारण वह यहाँ (ऋष्यमूक में) नहीं आता, तो भी मैं मन में भयभीत

---

1. आर्तः आर्तिपरिगृहीतः तस्करव्याघ्ररोगादिना अभिभूतः आपन्नः..... ।
   गीता - 7. 16 - शांकर भाष्य
2. न मामिमे ज्ञातयः आतुरं गजाः
   कुतः करिष्यः प्रभवन्ति मोचितुम् ।
   ग्राहेण पाशेन विधातुरावृतो-
   प्यहं च तं यामि परं परायणम् ।। भाग. 8. 3. 32

रहता हूँ ।[1] अन्त में श्रीराम का अपरिमित बल देखकर सुग्रीव आश्वस्त हो जाते हैं । सुग्रीव की प्रीति बढ जाती है और वे बार बार राम के चरणों में सिर नवाने लगते हैं ।[2] वे राम की सेवा करने लगते हैं ।[3] इसका उद्देश्य मुख्य रूप से अपनी आर्ति का शमन था । अतः यह आर्तभक्ति के अन्तर्गत रखने योग्य है ।

जिज्ञासा भक्ति

जिज्ञासा भक्ति का भी उल्लेख गीता के सातवें अध्याय के सोलहवें श्लोक में मिलता है । जिज्ञासु भक्त के अन्तःकरण में भगवान् के गुणों, कार्यों एवं प्रभावों से अवगत होने के लिए जिज्ञासा एवं आतुरता विद्यमान रहती है । एतदर्थ वह कुछ साधनाएँ करता रहता है । उनके हृदय में परमेश्वर के प्रति स्वाभाविक प्रेमभक्ति का अंकुर नहीं होता । जैसे-जैसे गंभीरता के साथ ईश्वर के

---

1. रिपु सम मोहि मारेसि अति भारी । हरि लीन्हेसि सर्बसु अरु नारी ।।
   ताकें भय रघुबीर कृपाला । सकल भुवन मैं फिरेउँ बिहाला ।।
   इहाँ साप बस आवत नाहीं । तदपि सभीत रहउँ मन माहीं ।। मानस. सुन्द. 6.6-7
2. देखि अमित बल बाढी प्रीति । बालि बध इन्ह भई प्रतीति ।।
   बार बार नावइ पद सीसा । प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा ।।
   मानस - सुन्दर - 7.7
3. सुख संपति परिवार बडाई । सब परिहरि करिहउँ सेवकाई ।।
   मानस - सुन्दर - 7.8

गुणों से अवगत होने के लिए वह परिश्रम में संलग्न होता जाता है, वैसे-वैसे ही उनके हृदय में ईश्वर के प्रति प्रेम अंकुरित एवं पल्लवित होने लगता है । जिज्ञासु भक्त अपनी जिज्ञासा की शान्ति के लिए तर्क वितर्क करते हैं और ज्ञानियों से परिप्रश्न आदि करते हैं । श्रीमद्भागवत का परीक्षित जिज्ञासु भक्त का अनुपम नमूना है । वे श्रीशुकब्रह्मर्षि से जो प्रश्न करते हैं वे सब उनकी जिज्ञासा का परिचय देते हैं । उदाहरण के लिए भगवान् की रासक्रीडा का वर्णन सुनकर उनके मन में सन्देह होता है कि धर्म संस्थापन के लिए अवतीर्ण भगवान् ने ऐसा शास्त्र विरुद्ध आचरण क्यों कर बैठे ? यह संदेह वे शुकदेव से पूछते हैं [1] और शुकजी उनकी शंका का समाधान भी देते हैं ।

मानस के उत्तर कांड में श्रेष्ठ जिज्ञासु भक्त के रूप में गरुड का चित्रण हुआ है । श्रीराम को नाग पाशों से बद्ध देखकर उनके मन में यह सन्देह उत्पन्न हुआ कि श्रीराम वास्तव में ईश्वर है या नहीं ।[2] वे सोचते हैं कि जिनका नाम जपकर मनुष्य संसार के बंधन से छूट जाते हैं उन्हीं राम को एक तुच्छ राक्षस ने नागपाश से बाँध लिया ।[3] गरुड अनेकों प्रकार से मन को समझाते हैं ।

---

1. स कथं धर्मसेतूनां वक्ता कर्ताभिरक्षिता ।
   प्रतीपमाचरद् ब्रह्मन् परदाराभिमर्शनम् ।। भाग 10.33.28
2. प्रभु बंधन समुझत बहु भांती । करत बिचार उरग अराती ।।
   व्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा । माया मोह पार परमीसा ।।
   सो अवतार सुनेउँ जग माहीं । देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं ।।
   मानस - उत्त - 58.3-4
3. भव बंधन ते छूटहिं नर जपि जा कर नाम ।
   खर्ब निसाचर बाँधेउ नागपास सोइ राम ।। वही - उत्त - 58

पर उन्हें ज्ञान नहीं होता, हृदय में भ्रम और भी छा जाता है ।[1] वे मन में तर्क करने लगते हैं । इस शंका के समाधान के लिए वे नारद, ब्रह्मा और शिव के पास जाते हैं । शिव ने उन्हें काकभुशुंडी के पास भेज दिया । शिव का उपदेश है कि सब सन्देहों का नाश दीर्घ काल तक सत्संग करने से ही होता है ।[2] सत्संग में सुन्दर हरि कथा होती है । उसे सुनते ही सन्देह दूर हो जायेगा और श्रीराम के चरणों में अत्यन्त प्रेम होगा ।[3] काकभुशुंडी से मिलकर वहाँ के हरिगुण गान में सम्मिलित होकर वह जिज्ञासु - भक्त गरुड शंका समाधान प्राप्त करते हैं ।

अर्थार्थी भक्ति

अपनी लौकिक स्थिति सुधारने के उद्देश्य से जो भगवान् की उपासना करते हैं, उनकी भक्ति अर्थार्थी भक्ति है । ऐसे भक्त किसी निश्चित सांसारिक पदार्थ - जैसे ऐश्वर्य - वैभव, यश -कीर्ति, पुत्र-पौत्रादि - की प्राप्ति के लिए ईश्वर की भक्ति करते हैं । इसका भी उल्लेख श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय में मिलता है । श्रीमद्भागवत में इसका उदाहरण ध्रुव की भक्ति में है । अपनी सौतेली माँ के द्वारा अपमानित होकर ध्रुव राजदरबार से निकल पडते हैं । बीच में नारद मिल जाते हैं तो ध्रुव कहते हैं कि मैं उस पद पर अधिकार करना

---

1. नाना भाँति मनहि समुझावा । प्रगट न ग्यान हृदय भ्रम छावा ।मानस-उत्त. 59.।
2. तबहि होइ सब संसय भंगा । जब बहुकाल करिअ सतसंगा ।। मानस-उत्त-61.2
3. नित हरि कथा होत जहँ भाई । पठवउँ तहाँ सुनहु तुम जाई ।।
   जाइहि सुनत सकल संदेहा । राम चरन होइहि अति नेहा ।।
   वही - उत्त - 61.4

चाहता हूँ, जो त्रिलोकों में सबसे श्रेष्ठ है तथा जिसपर मेरे बाप दादे और दूसरे कोई भी आरूढ़ नहीं हो सके हैं ।[1] नारद से दीक्षा लेकर वे यमुना के किनारे मधुवन में एकाग्र चित्त होकर परम पुरुष की उपासना करते हैं ।[2]

रामचरितमानस में अर्थार्थी भक्ति का उदाहरण मनु-शतरूपा की भक्ति में मिलता है । मनु और शतरूपा भगवान् की तपस्या करके उनके दर्शन प्राप्त करते हैं । लेकिन वे भगवान् से पुत्र प्राप्ति की इच्छा प्रकट करते हैं ।[3] पुत्र प्राप्ति की इच्छा से भगवान् की उपासना करने के कारण उनकी भक्ति अर्थार्थी भक्ति की कोटी में गिनायी जा सकती है ।

निष्कर्ष

भक्ति की शास्त्रीय विवेचना करनेवाले श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, नारद भक्तिसूत्र, शांडिल्यभक्तिसूत्र, भक्तिरसामृतसिंधु जैसे ग्रंथों

---

1. पदं त्रिभुवनोत्कृष्टं जिगीषोः साधु वर्त्म मे ।
   बृह्यस्मत्पितृभिर्बह्मन् अन्यैरप्यनधिष्ठितम् ।। भाग. 4.8.37
2. तत्राभिषिक्तः प्रयतस्तामुपोष्य विभावरीम् ।
   समाहितः पर्यचरद्दृष्यादेशेन पूरुषम् ।। वही - 4.8.7। .
3. दानसिरोमनि कृपानिधि नाथ कहउँ सति भाउ ।
   चाहउ तुम्हहि समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ ।।
   मानस - बाल - 149

में भक्ति के भिन्न प्रकार बताये गये हैं । इनमें भागवत, नारदभक्तिसूत्र तथा भक्तिरसामृतसिंधु में भक्ति के जो विभाजन मिलते हैं, वे सर्वविदित हो गए हैं । नारदभक्तिसूत्रों में भक्ति के परा और गौणी ये दो भेद जो बताये गए हैं, वह मोटे तौर का विभाजन है । भागवत की नवधा भक्ति, नारदभक्तिसूत्रों की एकादशधा भक्ति तथा भक्तिरसामृतसिंधु की पंचधा भक्ति में पराभक्ति के भिन्न भेदों का समग्र एवं सूक्ष्म विभाजन हुआ है । इनमें भी नारद की एकादशधा भक्ति सर्वश्लेषी सिद्ध होती है ।

मानस में भक्ति के भेदों पर विचार करने से सिद्ध हुआ है कि उसमें पराभक्ति और गौणी भक्ति के सारे के सारे प्रकार आये हैं । पराभक्ति के भेदों का अध्ययन नारदोक्त एकादशधा भक्ति के अनुसार करने से यह सिद्ध हुआ है कि मानस में एकादशधाभक्ति, नवधाभक्ति तथा पंचधाभक्ति के स्पष्ट उदाहरण विद्यमान हैं । एकादशधा भक्ति में नवधाभक्ति तथा पंचधाभक्ति समाविष्ट होने के कारण, उसके अनुसार किये गये विश्लेषण में समग्रता के साथ सरलता भी आयी है । मानस में आयी हुई गौणी भक्ति का विश्लेषण नारदभक्तिसूत्र के संकेत के और भागवत तथा गीता के एतद्विषयक श्लोकों के आधार पर करने से सिद्ध हुआ है कि गौणी भक्ति के समस्त उपभेद मानस में उपलब्ध है ।

मानस की भक्ति के प्रकारों की विवेचना से स्पष्ट है कि इसमें गौणी भक्ति को नहीं, वरन् पराभक्ति को ही महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है । जहाँ गुणों का प्रभाव दिखाई पडा है, वहाँ भी गौणी भक्ति को विकासशील दिखाया गया है और परा भक्ति अथवा कम से कम भगवत् प्राप्ति की ओर ले

चलनेवाला सिद्ध किया गया है ।[1] मानस में पराभक्ति के भेदों को सभी उदाहरण लेकर पूर्ण रूप से विश्लेषित करना तो इस छोटे अध्याय में असंभव है । एक ही प्रकार की भक्ति के अनेक उदाहरण मानस में आये हैं । फिर भी उनमें से दो-तीन उदाहरण लेकर विवेचना करने से ही यह स्पष्ट हुआ है कि मानस के अधिकांश भक्त भगवत्प्रेम में आकण्ठ आमग्न हैं और नारद के परमप्रेमरूपा वाली भक्ति - परिभाषा की कसौटी में खरे उतरनेवाले हैं । निष्कर्षतः हम यह कह सकते हैं कि भक्ति के विराट कैन्वैस में रचित रामचरितमानस में भक्ति के समस्त भेदों की सम्यक् प्रस्तुति हुई है ।

---

1. द्रष्टव्य : कालनेमि, रावण और अहल्या की भक्ति ।

पंचम अध्याय

रामचरितमानस में भक्तिसाधनाएँ तथा भक्ति का महत्व

परमप्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा भक्ति को प्राप्त कर भक्त सहज ही भगवान् के स्मरण में लीन रहते हैं । इस भक्ति में भक्त भगवान् के प्रति एकान्त-प्रेम रखते हैं । भिन्न प्रकार के भक्तों में ये ही प्रमुख हैं,[1] इनकी भक्ति ही श्रेष्ठ है । इसे प्राप्त करने के लिए हर व्यक्ति को साधक की अवस्था से गुज़रना पडता है । इस अवस्था में व्यक्ति के आचरण किस प्रकार के होने चाहिए, यह गीता, भागवत, भक्तिसूत्र आदि भक्तिशास्त्रग्रंथों में बताया गया है । इन्हीं आचरणों को भक्ति-साधनाएँ कहते हैं । ये कई प्रकार की बताई गई हैं, जैसे विषय और विषयासक्ति का त्याग, अधमभावों का उदात्तीकरण, दुस्संग का त्याग, सत्संग का संपादन, निरन्तर भजन, कर्मों का भगवदर्पण आदि । रामचरितमानस में भक्तिसाधना के इन भिन्न अंगों का सम्यक् समावेश हुआ है । इस अध्याय में इन्हीं भक्तिसाधनाओं और उनके महत्व की चर्चा होगी ।

कृपा और पुरुषार्थ

इस संदर्भ में भगवत्कृपा के बारे में भी एक संक्षिप्त चर्चा आवश्यक है । आध्यात्मिक जगत् में कृपा और पुरुष-प्रयत्न को लेकर अनेक वाद-विवाद हुए हैं । पुरुषार्थवादी अपने मत की पुष्टि के लिए

उद्धरेत् आत्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।
आत्मैव ह्यात्मनोबन्धुः आत्मैव रिपुरात्मनः ।।[2]

जैसी उक्तियाँ पेश करते हैं तो कृपा को परमप्रधान माननेवाले अपने मत की पुष्टि के लिए :

---

1. भक्ता एकान्तिनो मुख्याः । ना.भ.सू. 67
2. गीता - 6.5

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः
तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।[1]

जैसी उक्तियाँ पेश करते हैं । भक्तिशास्त्र एवं रामचरितमानस में पुरुषार्थ तथा भगवत्कृपा दोनों को यथा योग्य स्थान दिया गया है । श्रीमद् भगवद्गीता में अनेक स्थानों पर कृपा का उल्लेख मिलता है । दसवें अध्याय में ईश्वर की अनुकंपा के बारे में कहा गया है कि निरन्तर भगवद्भजन करनेवालों के प्रति अनुकंपा करके भगवान् उनके अज्ञान रूपी तम का नाश करते हैं ।[2] ग्यारहवें अध्याय में अर्जुन को भगवान् के विश्वरूप-दर्शन होते हैं, वह भी भगवान् के कृपाप्रसाद का फल था ।[3] पुनः अठारहवें अध्याय में भी भगवत्प्रसाद से समस्त बाधाओं का दूर होना बताया गया है ।[4]

श्रीमद्भागवत का मत भी इससे भिन्न नहीं है । उसमें भी अनेक स्थानों में भगवत्कृपा के महत्व को रेखांकित किया गया है । दशम स्कंध

---

1. कठोपनिषद् - 1.2.23
2. तेषामेवानुकंपार्थमहमज्ञानजं तमः ।
   नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ।। गीता 10.11
3. मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं
   रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् । गीता 11.47
4. सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः ।
   मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम् ।। गीता 18.56

पूर्वार्ध के चालीसवें अध्याय में इस बात का सबसे अच्छा प्रमाण मिलता है । अक्रूर-स्तुति नामक उस अध्याय में अक्रूर भगवान् से कहते हैं कि मैं आपके चरणों में आ पहुँचा हूँ, जो आप के कृपा प्रसाद का ही फल है । जब जीव के संसार से मुक्त होने का समय आता है, तब सत्पुरुषों की उपासना से चित्तवृत्ति आप में लगती है ।[1]

नारदभक्तिसूत्रों का मत भी बिलकुल इसके अनुरूप है । भक्तिसूत्रकार भक्ति की प्राप्ति का मुख्य कारण महत्कृपा मानते हैं ।[2] महत्संग का लाभ ईश्वर की कृपा से ही होता है ।[3] यहाँ आचार्य शंकर के विवेकचूडामणि का एक प्रसिद्ध श्लोक भी उल्लेखनीय है, जहाँ भी महत्संग को भगवत्कृपा का ही फल माना गया है ।[4]

रूप गोस्वामी ने अपने भक्तिरसामृतसिंधु में भी भगवत्कृपा से मिलनेवाली भक्ति का उल्लेख किया है । भगवत्प्रेम को श्रीहरि की अत्यंत

---

1. सोऽहं तवांघ्र्युपगतोस्म्यसतां दुरापं तच्चाप्यहं भवदनुग्रह ईश मन्ये ।
   पुंसो भवेद् यर्हि संसरणापवर्गः त्वय्यब्जनाभ सदुपासनया मति स्यात् ।
   भाग 10.40.28
2. मुख्यतस्तु महत्कृपयैव, भगवत्कृपालेशाद् वा । ना.भ.सू. 38
3. लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव । ना.भ.सू. 40
4. दुर्लभं त्रयमेवैतत् दैवानुग्रहहेतुकम् ।
   मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः ।। विवेकचूडामणि - 3

लोकोत्तर कृपा से उत्पन्न माना है ।[1] भगवान् की यह अतिकृपा भक्त को भगवान् के संग-दान से आरंभ होती है, ऐसा भी वहाँ कहा गया है ।[2]

तुलसीदास ने भी मानस में भगवान् के बारे में जानना भगवत्कृपा से ही संभव माना है :

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ।।
तुम्हरिहि कृपाँ तुम्हहि रघुनंदन । जानहिं भगत भगत उर चंदन ।।[3]

साधना का महत्व

भगवत्कृपा को परम प्रधान मानने पर भी साधना का महत्व घटता नहीं है । साधना भी अनिवार्य है । यह इसलिए कि भगवत्कृपा का अनुभव करना साधना से ही संभव है ।[4] ऐसा न मानने पर साधना का कोई स्थान नहीं रहेगा । तब भक्तिसूत्रों में नारद ने "भक्तिसाधनानि" नामक जो अध्याय लिखा है उसकी प्रासंगिकता ही मिट जायेगी । उसी प्रकार भागवत-धर्म निरूपण करनेवाले श्रीमद्भागवत एकादश स्कंध का विदेह-नवयोगी-संवाद भी व्यर्थ होगा । गीतोक्त साधनाएँ तथा भक्तिरसामृतसिंधु के पूर्व विभाग की "साधन भक्तिलहरी" आदि भी निरर्थक हो जायेंगे । रामचरितमानस में वर्णित साधनाएँ

---

1. भावोत्थोऽति प्रसादोत्थः श्रीहरेरिति स द्विधा । भ. र. सिं. 1.4.3
2. हरेरतिप्रसादोऽयं संगदानादिरात्मनः । भ. र. सिं. 1.4.4
3. मानस - अयो. 127.2
4. Human effort is necessary only to learn that human effort as such is useless, and God's will alone is the real power that controls and brings all events .
In the vision of God. I - Swami Ramdas - Page 131

भी अनावश्यक बन जायेंगे । अतः स्पष्ट है कि भगवत्कृपा सबसे प्रमुख होने पर भी उसकी प्राप्ति एवं अनुभूति के लिए साधना अनिवार्य है ।

भक्तिशास्त्रोक्त साधनाएँ

आध्यात्मिक शास्त्रों में सबसे प्राचीन उपनिषदों से लेकर सब ग्रंथों में साधनाओं का वर्णन मिलता है । केनोपनिषद् में ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए तपस्या, आत्मसंयम एवं निष्काम कर्मों को अनिवार्य बताया गया है ।[1] उसी प्रकार कठोपनिषद् में दुराचारी अशान्त एवं असमाहित व्यक्ति के लिए आत्मानुभूति असंभव बतायी गई है ।[2] भक्तिसाधनाओं का उल्लेख श्रीमद्भगवद्-गीता के बारहवें अध्याय में विशद रूप से किया गया है ।[3] वहाँ ध्यान, अभ्यास, समर्पण पूर्वक कर्मानुष्ठान आदि का उल्लेख मिलता है ।

श्रीमद् भागवत में अनेक स्थानों पर भक्ति की साधनाओं की चर्चा हुई है । तृतीय स्कंध के कपिलचरित्र में विविध भक्तिसाधनाओं का उल्लेख मिलता है । वहाँ कहा गया है कि निष्काम कर्मानुष्ठान, भगवान् की मूर्ति की पूजा, सब प्राणियों में भगवद् भावना, सत्संग, शास्त्राध्ययन, नामसंकीर्तन आदि से भगवान् में मन लग जाता है ।[4] एकादश स्कंध में विदेह और

---

1. तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा । केनोपनिषद् - 4.8
2. नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः
   नाशान्तमनसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् । कठोपनिषद् 1.2.23
3. गीता - 12.8-10
4. मद्धर्मणो गुणैरेतैः परिसंशुद्ध आशयः ।
   पुरुषास्याञ्जसाभ्येति श्रुतमात्रगुणं हि माम् ।। भाग 3.29.14

नवयोगियों के संवाद में कवि नामक योगीश्वर ने भागवत धर्मों का विशद वर्णन दिया है । वहाँ समस्त कर्मों का भगवदर्पण, गुरू भक्ति, आत्मसंयम, भगवान् के नाम तथा माहात्म्य का श्रवण और कीर्तन, समस्त प्राणियों में भगवद् भावना आदि भागवत धर्म के प्रमुख अंग बताये गये हैं ।[1]

नारदभक्तिसूत्रों में एक पूरा अध्याय भक्ति साधनाओं के लिए रखा गया है । "भक्तिसाधनानि" नामक तृतीय अध्याय में सोलह सूत्रों में भिन्न प्रकार की साधनायें वर्णित हैं । वहाँ भक्ति साधनाओं का वर्णन दो चरणों में किया गया है । पहला चरण भक्ति की प्राप्ति के साधन बताता है । दूसरे चरण में माया को पार करने के उपाय पाँच सूत्रों में बताये गये हैं । माया तरण के उपाय भक्ति प्राप्ति के साधनों से कोई खास भिन्नता तो नहीं रखते हैं । फिर भी इस पर जोर देने का विशेष उद्देश्य है । भक्ति साधनाओं के सम्यक् आचरण से भक्ति की उच्चतर भूमिकाओं को प्राप्त करने के बाद भी पराभक्ति-लाभ होने तक पतन की संभावना है । यह माया का वैभव है । अतः उच्च साधकों को भी यह चेतावनी दी गयी है कि जब तक अमृतस्वरूपा प्रेमाभक्ति प्राप्त न हुई हो, तब तक माया को पार करने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । नारदभक्तिसूत्रों में दुस्संग का त्याग तथा सत्संग, भगवद्गुणों का श्रवण-कीर्तन, कर्मों का भगवदर्पण, विषयासक्ति तथा कामक्रोधादि का त्याग आदि साधनायें उल्लिखित हैं ।[2]

---

1. भाग ।।.2. 34-41

2. ना.भ.सू. अध्याय - 3

ऊपरी दृष्टि से देखने पर ये भक्ति साधनाएँ मुख्यत: दो प्रकार की सिद्ध होती है : एक निषेधात्मक एवं दूसरी विध्यात्मक । निषेधात्मक साधनाओं में न करने योग्य बातों की चर्चा होती है । इनमें विषय भोग तथा विषयासक्ति का त्याग, कामक्रोधादि अधम भावों का त्याग और दुस्संग का त्याग प्रमुख है । विध्यात्मक साधनाओं में सत्संग, भगवद्गुणों का श्रवण कीर्तनादि रूप भजन और कर्मों का भगवदर्पण प्रमुख है । अब रामचरितमानस में इन साधनाओं का समावेश किस प्रकार हुआ है, यह विस्तार से देखा जायेगा ।

विषय भोग और विषयासक्ति का त्याग

प्रपंच के सारे विषय पंचभूतों के परिणाम मात्र हैं । ये त्रिगुणों के स्तर पर आते है । भक्ति तो गुणरहित है, निर्गुण है ।[1] अत: भक्ति से विषय का कोई नाता नहीं है । विषय मन को भगवान् से दूर कर देते हैं ।[2] अत: विषयभुक्ति तथा विषयासक्ति के त्याग पर भक्तिशास्त्र ने जोर दिया है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में विषयासक्ति को सर्वनाश का हेतु बताया गया है ।[3] श्रीमद्भागवत में अनेक स्थानों पर विषयों की निन्दा और उसके त्याग

---

1. ना.भ.सू. 54
2. विषयेषु गुणाध्यासात् पुंस: संगस्ततो भवेत् ।
   संगात् तत्र भवेत् काम: कामादेव कलिर्नृणाम् । भाग - 11.21.19
3. ध्यायतो विषयान्पुंस: संगस्तेषूपजायते ।
   संगात्संजायते काम: कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
   क्रोधाद्भवति संमोह: सम्मोहात्स्मृतिविभ्रम: ।
   स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।। गीता .2 - 62-63

की प्रशंसा की गयी है । भागवत सप्तम स्कंध में प्रह्लाद-चरित्र के संदर्भ में अनेक स्थानों पर विषयों का त्याग निर्दिष्ट हुआ है । धन, स्त्री, पुत्र, घर, वित्तकोष ये सब क्षणभंगुर हैं । इसी प्रकार यज्ञादि से प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि लोक भी नाशवान् हैं । अतः इनकी इच्छा त्यागकर भगवान् का भजन करना है ।[1] ऐसा उपदेश प्रह्लाद ने उपरोक्त प्रसंग में दिया है । एकादश स्कंध में उद्धव को उपदेश देते समय स्वयं भगवान् ने भी इस बात पर जोर दिया है कि समस्त लौकिक लाभ नश्वर, दुःखद एवं क्षुद्र हैं ।[2] भक्ति के आनन्द की इससे तुलना ही संभव नहीं है ।[3]

नारदभक्तिसूत्रों के तृतीय अध्याय में भक्तिसाधनाओं का वर्णन करते हुए सूत्रकार ने सर्वप्रथम विषय और विषय संग के त्याग का उल्लेख किया है ।[4] विषय त्याग में ध्यान देने की बात यह है कि अगर विषयों का उपभोग निस्संग भाव से किया जाता है तो वह साधना पथ में बाधक नहीं है ।[5] संग का त्याग ही प्रमुख है । विषयों का त्याग संगत्याग का उपाय है । इसलिए, संगत्याग में सहायक होने पर ही विषयों का त्याग करना चाहिए । संगत्याग की बात

---

1. रायः कलत्रं पशवः सुतादयो गृहाभही कुंजरकोशभूतयः ।
   सर्वेऽर्थकामाः क्षणभंगुरायुषः कुर्वन्ति मर्त्यस्य कियत् प्रियं चलाः ।।
   एवं हि लोकाः क्रतुभिः कृता अमी क्षयिष्णवः साऽतिशयाः न निर्मलाः ।
   तस्मादद्दृष्टश्रुतदूषणं परं भक्त्यैकयेशं भजतात्मलब्धये ।। भा. 7.7.39-40
2. आद्यन्तवन्त एतेषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः ।
   दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः ।। भाग ।।.14.12
3. Uddhava Gita - IX.II Commentary by Swami Madhavananda.
4. तत् तु विषयत्यागात् संगत्यागात् च । ना.भ.सू. 35
5. रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
   आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।। गीता - 2.64

भक्तिसूत्रों के इसी अध्याय में छियालीसवें सूत्र में फिर आयी है ।[1]

रामचरितमानस में भी विषयासक्ति और विषयभोग को भक्ति में बाधक माना गया है । अरण्यकाण्ड में लक्ष्मण के पूछने पर राम स्पष्ट कहते हैं कि विषयों में वैराग्य से ही भगवान् में अनुराग उत्पन्न होता है ।[2] राम के पुनः समागम की प्रतीक्षा करनेवाले अयोध्यावासियों के सहज विषयत्याग की ओर संकेत करते हुए मानसकार ने लिखा है :

राम दरस लगि लोग सब करत नेम उपबास ।
तजि तजि भूषन भोग सुख जिअत अवधि कीं आस ।।[3]

उसी प्रसंग में भरत की अनासक्ति का वर्णन भी आया है । भरत ने भूषण, कपड़े आदि सब सुख भोगों को तृणवत् समझा और मनसा वाचा कर्मणा उनको त्याग दिया । चंपा के बाग में भौंरे की भाँति वैभवपूर्ण अयोध्या में भरत अनासक्त जीवन बिताने लगे ।[4]

---

1. कस्तरति कस्तरति मायां यः संगं त्यजति यो
महानुभावं सेवते निर्ममो भवति । ना.भ.सू. 46
2. एहि कर फल पुनि विषय बिरागा । तब मम धर्म उपज अनुरागा ।। मानस. अर. 16.4
3. मानस - अयो. 322
4. भूषण बसन भोग सुख भूरी । मन तन बचन तजे तिन तूरी ।।
अवध राजु सुर राजु सिहाई । दसरथ धनु सुनि धनहु लजाई ।।
तेहिं पुर बसत भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चंपक बागा ।।
मानस - अयो. 324.3,4

मानसकार की राय में भगवान् के लिए किए जानेवाले विषय त्याग में कोई आश्चर्य की बात नहीं है । सीता की ओर से होनेवाला विषय त्याग उनकी दृष्टि में स्वाभाविक है :

सुमिरत रामहि तजहिं जन तृन सम विषय बिलासु ।
राम प्रिया जग जननि सिय कछु न आचरजु तासु ।।[1]

अधमभावों का उदात्तीकरण

यह भक्तिसाधना का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है । इसी के कारण भक्तिसाधना अन्य साधनाओं - ज्ञान, योग, कर्म आदि - की अपेक्षा सरल बनती है । हर साधक में लौकिक वस्तुओं के प्रति आकर्षण होना स्वाभाविक है । जैसा कि ऊपर बताया गया है, आध्यात्मिक प्रगति के लिए इस आकर्षण से मुक्ति परम आवश्यक है । मोक्षप्राप्ति के ज्ञान, कर्म आदि अन्य मार्गों की साधना अपेक्षाकृत कठिन है । कर्मपथ में चित्त शुद्धि के लिए अनेक प्रकार की क्रियाओं का आचरण करना पडता है तो ज्ञान में अव्यक्त ब्रह्म को तर्क के द्वारा सिद्ध करना पडता है ।[2] यहाँ भी चित्तशुद्धि अत्यन्त क्लिष्टता से ही प्राप्त होती है ।[3]

---

1. मानस - अयो. 2.140
2. अत्यायासकराणिकर्मपटलान्याचर्य निर्यन्मला:
   बोधे भक्तिपथेऽथवाप्युचितताभायान्ति किं तावता: ।
   क्लिष्ट्वा तर्कपथे परंतवपुर्ब्रह्माख्यमन्ये पुन:
   चित्तार्द्रत्वमृते विचिन्त्य बहुभि: सिध्यन्ति जन्मान्तरे ।। नारायणीय 2.9
3. चित्तार्द्रीभावमुच्चैर्वपुषि च पुलकं हर्षबाष्पं च हित्वा
   चित्तं शुध्येत् कथं वा किमु बहु तपसा विद्यया वीत-भक्ते : । नारायणीय 95.6

भक्ति में चित्त के अधम भावों से मुक्ति का सहज एवं सरल मार्ग प्राप्त है । यह अधम भावों के उदात्तीकरण से संपन्न होता है । भक्ति उदात्त प्रेम का मार्ग है । प्रेम को उच्च आदर्श की ओर मोड देने का मार्ग भक्ति में मिलता है । किसी भी अधम भाव के उन्मूलन पर भक्ति-साधना बल नहीं देती है, वरन् उसे ऊँचे आदर्श की ओर ले जाना ही भक्ति-साधना का मार्ग है । जब उच्चतम को प्रेम का लक्ष्य बनाया जाता है, तब सारे अधम भाव स्वयमेव साधक से छूट जाते हैं ।[1]

समूचे भक्तिशास्त्र में अधम भावों के इस उदात्तीकरण पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है । भगवद् गीता की -

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।।
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति ।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ।।[2]

वाली उक्ति विख्यात है जो इसी भाव को व्यक्त करती है । इसका तात्पर्य है कि अगर कोई दुराचारी भी अनन्य भाव से भगवान् का भजन करने लगता है तो वह सज्जन ही माने जाने योग्य है, वह ठीक रास्ते पर है । जल्दी

---

1. Bhakti-Yoga does not say "give up" ; it only says "Love; Love the Highest" - and everything low naturally falls off from him whose love is the Highest.
The complete Works of Swami Vivekananda - Vol.III - P.74
2. गीता - 9.30,31

ही वह धर्मात्मा बन जायेगा और शाश्वत शान्ति प्राप्त करेगा । इससे सिद्ध होता है कि भगवान् में मन लगाकर अपने अधम वृत्तियों को उदात्त बनाना गीताचार्य को भी अभीष्ट है ।

श्रीमद्भागवत में अनेक स्थानों पर इस प्रकार की उक्तियाँ आयीं हैं । गोपिकाओं की भक्ति अधम भावों के उदात्तीकरण का सुन्दर दृष्टांत है । गोपिकाओं ने कृष्ण को जार भाव में देखा था परंतु तुरंत ही उनके सारे मनोमल ध्वस्त हो गए और वे परमहंसों की अवस्था को प्राप्त हुईं ।[1] काम, द्वेष, भय, स्नेह आदि किसी भी भाव को भगवान् की ओर मोड देने से भावों का उदात्तीकरण संपन्न होता है और भक्ति की उच्चावस्था प्राप्त होती है ।[2] भागवतकार इसके उदाहरण भी देते हैं । गोपियाँ काम से, कंस भय से, शिशुपाल आदि द्वेष से, वृष्णिवंश के लोग संबंध से और पांडव स्नेह से भक्ति की अच्चावस्था को प्राप्त हुए ।

भक्तिरसामृतसिंधु में कहा गया है कि भगवान् के भजन में रुचि रखनेवाले का विषयों के प्रति प्रबल राग भी प्रायः समाप्त हो जाता है ।[3] नारदभक्तिसूत्रों में भी काम, क्रोध, अभिमान आदि से मुक्ति का सरलतम मार्ग

---

1. जारात्मना न परमात्मतया स्मरन्त्यो
   नार्यो गताः परमहंसगतिंक्षणेन । नारायणीय - 65.8
2. कामाद् द्वेषाद् भयात् स्नेहाद् यथा भक्त्येश्वरे मनः ।
   आवेश्य तदघं हित्वा बहवस्तद्गतिं गताः ।। भागवत - 7.1.29
3. रुचिमुद्वहतस्तत्र जनस्य भजने हरेः ।
   विषयेषु गरिष्ठोऽपि रागः प्रायो विलीयते ।। भक्तिरसामृतसिंधु - 1.2.69,70

दिखाया गया है । चतुर्थ अध्याय में नारद ने बताया है कि सब कर्मों को भगवान् के लिए अर्पित करना और काम, क्रोध, अभिमान आदि को भी भगवान् की ओर मोड़ देना चाहिए ।[1] इसका तात्पर्य है कि अगर काम साधक को सताता है तो उसे भगवत्प्राप्ति की इच्छा के रूप में परिणत करना चाहिए । भगवद्भक्ति के विरोधी तत्वों से क्रोध करके क्रोध को उदात्त करना है । उसी प्रकार अपने को भगवान् का सेवक मानकर अभिमान करना है । इस ढंग में सारे आन्तरिक शत्रुओं को मित्र बनाना ही इस सूत्र का तात्पर्य है ।

इस प्रकार का व्यवहार रामचरितमानस के पात्रों में परिलक्षित हुआ है । इसमें वर्णित प्रायः सभी भक्त श्रीराम की सेवा की इच्छा रखकर अपनी सीमित स्वार्थ-कामनाओं के ऊपर उठते हैं । उसी प्रकार क्रोध को राम की सेवा में बाधक तत्वों की ओर मुड़ाने के भी अनेक दृष्टान्त हैं । भरत का कैकेयी पर क्रुद्ध होना[2] एवं शत्रुघ्न का मंथरा पर क्रुद्ध होना[3] इस संदर्भ में स्मरणीय हैं । लक्ष्मण का सारा जीवन साधनामय है जिसमें भी क्रोध को भगवद्विरोधी तत्वों की ओर मुड़ाने का सफल प्रयास किया गया है । वन में भरत के आगमन की खबर

---

1. ना. भ. सू. 65
2. सुनि सुठि सहमेउ राजकुमारू । पाकें छत जनु लाग अंगारू ।।
   धीरज धरि भरि लेहिं उसासा । पापिनी सबहि भाँति कुल नासा ।।
   मानस - अयो. 161.3
3. तेहि अवसर कुबरी तहँ आई । बसन बिभूषन बिबिध बनाई ।।
   लखि रिस भरेउ लखन लघु भाई । बरत अनल घृत आहुति पाई ।।
   हुमगि लात तकि कूबर मारा । परि मुह भर महि करत पुकारा ।।
   मानस - अयो. 163.1,2

पाकर लक्ष्मण सोचते हैं कि भरत राम पर चढाई कर रहे हैं । सिर पर जटा बाँधकर उन्होंने कमर पर तरकस कस लिया और धनुष को सजाकर बाण को हाथ में लिया । फिर वे अपने क्रोध को राम के शत्रु लगनेवाले भरत और शत्रुघ्न की ओर मुडा देते हैं :

आजु राम सेवक जसु लेऊँ । भरतहि समर सिखावन देऊँ ।।
राम निरादर कर फलु पाई । सोवहुँ समर सेज दोउ भाई ।।[1]

अभिमान के उदात्तीकरण का सुन्दर उदाहरण निषादराज गुह में मिलता है । भरत को शत्रु मानकर उन्होंने युद्ध की तैयारियाँ कीं थीं । उस संदर्भ में उनका कथन है :

स्वामि काज करिहउँ रन रारी । जस धवलिहउँ भुवन दस चारी ।।
तजउँ प्रान रघुनाथ निहोरें । दुहूँ हाथ मुद मोदक मोरें ।।[2]

दुस्संग का त्याग

पराभक्ति की प्राप्ति में सबसे बडी बाधा दुस्संग है । दुस्संग का सामान्य अर्थ है बुरे व्यक्तियों की संगति । बुरे व्यक्तियों की संगति में बुरे विषयों की चर्चा होगी । भक्ति मार्ग में चलनेवालों के चित्त में इससे विक्षेप होता है और वे साधन-च्युत हो जाते हैं । इसलिए दुस्संग का त्याग अनिवार्य है ।

---

1. मानस - अयो. 230.2
2. मानस - अयो. 190.3

श्रीमद्भगवद्गीता के सोलहवें अध्याय दैवासुरसंपद्योग में आसुर प्रकृति का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है । आचार्य शंकर ने अपने भाष्य में आसुर प्रकृति के विस्तार पूर्वक वर्णन का प्रयोजन बताया है । उनके अनुसार आसुर प्रकृति के त्याग के लिए ही उसका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है ।[1]

श्रीमद्भागवत में तो अनेक स्थानों पर दुस्संग के खतरों तथा उसके त्याग की आवश्यकता बतायी गयी है । यह उदाहरणों एवं उपदेशों के द्वारा किया गया है । श्रीमद्भागवत के सुप्रसिद्ध प्रसंग अजामिलोपाख्यान में दुस्संग से एक श्रेष्ठ व्यक्ति का अध:पतन सुन्दर ढंग में व्यक्त किया गया है । अजामिल बडा शास्त्रज्ञ था । शील, सदाचार और सद्गुणों का तो वह खजाना ही था । ब्रह्मचारी, विनयी, जितेन्द्रिय, सत्यनिष्ठ, मन्त्रवेत्ता और पवित्र भी था । एक दिन वन में उसने एक वेश्या तथा उसके कामी पुरुष को कामचेष्टायें करते देखा । सहसा वह मोहित और काम के वश हो गया । उसकी सदाचार और शास्त्र संबंधी चेतना नष्ट हो गई । वह अपने पिता की सारी संपत्ति देकर भी उस कुलटा को रिझाने लगा ।[2] इसप्रकार दुस्संग से उसका पतन हुआ । भागवत के एकादश स्कंध में भगवान् उद्धव को यह उपदेश देते हैं कि विषयी पुरुषों का कभी भी संग नहीं करना चाहिए । अंधे के पीछे चलनेवाले अंधे के समान इनका संग करनेवालों का पतन अवश्यंभावी है ।[3] भगवान् इस बात को रेखांकित करने के लिए

---

1. आ अध्यायपरिसमाप्ते: आसुरी संपत् प्राणिविशेषत्वेन प्रदर्शयते प्रत्यक्षीकरणेन च शक्यते अस्या: परिवर्जनं कर्तुं इति । गीता - 16.6 शांकर भाष्य
2. भागवत - 6. 1. 56-61
3. संगं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् ।
   तस्यानुगस्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगान्धवत् ।। वही - 11.26. 3

ऐलगीता प्रस्तुत करते हैं जिसमें उर्वशी के मोह में पड़े पुरूरवा का पश्चात्ताप मार्मिक ढंग में अंकित है ।[1] पुरूरवा अपने गीत के अन्त में कहते हैं कि स्त्रीसंग तथा स्त्रैणों का संग सर्वथा त्याज्य है ।[2] इसलिए दुस्संग को त्यागकर सज्जनों का संग करना आवश्यक है, यही भगवान् के कथन का तात्पर्य है । मन को आसक्तिहीन बनाने का यही उपाय है ।[3]

भक्तिरसामृतसिंधु में भगवान् से विमुख जनों के संग को दूर से ही त्याग देना आवश्यक बताया गया है ।[4]

भनारदभक्तिसूत्रों में दुस्संग को सर्वथा त्याज्य बताया गया है - "दुस्संगः सर्वथैव त्याज्यः ।"[5] इस सूत्र में "एव" अव्यय का प्रयोग जान बूझकर ही किया गया है । नारद ने सत्संग की महिमा बताने के बाद दुस्संग के त्याग का आदेश दिया है । ऊपरोक्त सूत्र में "एव" शब्द से यह संकेत किया गया है कि सत्संग की प्राप्ति से भी अधिक महत्व दुस्संग के त्याग को

---

1. भाग. ।।.26.7-24
2. तस्मात्संगो न कर्तव्यः स्त्रीषु स्त्रैणेषु चेन्द्रियैः ।
   विदुषां चाप्यविश्रब्ध षड्वर्गः किमु मादृशाम् ।। भाग. ।।.26.24
3. ततो दुस्संगमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान् ।
   सन्त एतस्य छिन्दन्ति मनोव्यासंगमुक्तिभिः ।। भाग ।।.26.26
4. संगत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखैर्जनैः । भ.र.सिं. ।.2.27
5. ना.भ.सू. 43

देना चाहिए । सत्संग से भक्ति मार्ग में किंचित् आरूढ होने पर अगर दुस्संग किया जाता है तो जो भक्ति प्राप्त हुई है, उसका भी नाश हो जाता है ।[1]

नारदभक्तिसूत्रों के चतुर्थ अध्याय में दुस्संग-त्याग को और भी सूक्ष्मता से विवेचित किया गया है । वहाँ कहा गया है कि कामुकता, धन, नास्तिकता और शत्रुता की बातें सुनना नहीं चाहिए ।[2]

दुस्संग का त्याग क्यों आवश्यक है, इस पर भी नारदभक्तिसूत्र प्रकाश डालते हैं । दुस्संग से व्यक्ति के मन में काम, क्रोध और मोह का उदय होता है । इनके अनेक दुष्परिणाम हैं । पहला परिणाम स्मृतिभ्रंश है । उसके बाद बुद्धि नाश और तदुपरान्त सर्वनाश होता है ।[3] साधक में ये दुर्गुण तरंग के समान क्षीण भी क्यों न हो, दुस्संग होता है तो पुष्ट होकर समुद्र समान विशाल रूप धारण करते हैं ।[4]

रामचरितमानस में भी दुस्संग को पूर्णत: त्याज्य बताया गया है । मानस के सुन्दरकाण्ड में स्वयं श्रीराम ने दुस्संग को नरकवास से भी खतरनाक

---

1. यमसद्भि: पथि पुन: शिश्नोदरकृतोद्यमै: ।
   आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत् ।। भाग. 3.31.32
2. स्त्रीधननास्तिकवैरिचरित्रं न श्रवणीयम् । ना.भ.सू. 63
3. कामक्रोधमोहस्मृतिभ्रंशबुद्धिनाश सर्वनाशकारणत्वात् । ना.भ.सू. 44
4. तरंगायिता अपीमे संगात् समुद्रायन्ते । ना. भ.सू. 45

कहा है :

बरु भल बास नरक कर ताता । दुष्ट संग जनि देइ बिधाता ।।[1]

मानस के प्रारंभ में भी बताया गया है कि बुरे संग से हानि होती है ।[2] मंथरा से मिलने के बाद कैकेयी में आए परिवर्तन को तुलसीदास ने पूर्णतः दुस्संग का दुष्परिणाम माना है :

को न कुसंगति पाइ नसाई । रहइ न नीच मतें चतुराई ।।[3]

दुस्संग से होनेवाले क्रमिक पतन का संपूर्ण इतिहास कैकेयी में प्राप्त होता है । कैकेयी निसर्गतः स्वच्छ स्वभाववाली और राम के प्रति वात्सल्य रखनेवाली थीं । मंथरा से वे कहती भी हैं कि विधाता कृपा करके मुझे और भी जन्म देते तो श्रीराम मेरा पुत्र और सीता मेरी बहू हों । वे यहाँ तक कहती हैं कि श्रीराम मुझे प्राणों से भी प्रिय हैं । राम के राज्याभिषेक में उन्हें तनिक भी क्षोभ नहीं था ।[4] परन्तु मंथरा से मिला दुस्संग कैकेयी में अपने पुत्र के राज्याभिषेक की कामना जगाता है । फिर राम के प्रति क्रोध उत्पन्न होता है । क्रोध के कारण वे कोप-भवन में चली जाती हैं ।

---

1. मानस - सु . 46.4
2. हानि कुसंग सुसंगति लाहू । लोकहूँ बेद बिदित सब काहू ।। मानस - बाल. 7.4
3. मानस - अयो. 24.4
4. जौं बिधि जनमु दइ करि छोहू । होहुँ राम सिय पूत पुतोहू ।।
   प्रान तें अधिक रामु प्रिय मोरें । तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें ।।
   मानस - अयो. 15.4

वहाँ वे मोह के वशीभूत हो जाती हैं । इस प्रकार नारदभक्तिसूत्रों में कहे गए क्रम के अनुसार अन्त में वैद्यव्य और पुत्र तक की घोर शत्रुता रूपी हानि उन्हें पहुँचती है । यह प्रसंग दुस्संग के त्याग का आदेश देनेवाला उत्तम उदाहरण है । दुस्संग के दुष्परिणामों को मन में रखकर तुलसीदास ने श्रीराम के ही मुख से यह उपदेश दिलवाया है कि कभी भूलकर भी दुष्टों की संगति करनी नहीं चाहिए :

सुनहु असन्तन्ह केर सुभाऊ । भूलेहुँ संगति करिअ न काउ ।।
तिन्हकर संग सदा दुखदाई । जिमि कपिलहि घालइ हरहाई ।।[1]

सत्संग की आवश्यकता

सत्संग का अर्थ है सज्जनों की संगति । जिस प्रकार दुस्संग से व्यक्ति का अधःपतन होता है, उसी प्रकार सत्संग से व्यक्ति की उन्नति होती है । लौकिक और आध्यात्मिक दोनों प्रकार की उन्नति सत्संगति से प्राप्त होती है । भर्तृहरि के नीतिशतक में सत्संगति की महिमा का वर्णन करनेवाला एक श्लोक आया है जिसका भाव है कि बुद्धि की स्फूर्ति, मानोन्नति, पापनिवारण, मनःप्रसाद एवं कीर्तिलाभ ये और अन्य सभी लाभ सत्संगति से प्राप्त होता हैं ।[2] आध्यात्मिक जीवन में तो सत्संग का सर्वाधिक महत्व है । उपनिषदों में जिज्ञासु शिष्यों को ज्ञानी गुरुओं के पास जाकर सत्संग करते हुए

---

1. मानस - उत्त - 39.।
2. जाड्यं धियो हरति सिंचति वाचि सत्यं
मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ।
चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्तिं
सत्संगतिः कथय किं न करोति लोके ।। नीतिशतक. 23

चित्रित किया गया है ।[1] श्रीमद्भगवद्गीता में भी सत्संग की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है । चतुर्थ अध्याय में ज्ञानियों के साथ प्रश्नादि करके ज्ञान प्राप्त करने की बात आयी है ।[2]

श्रीमद्भागवत में सत्संग को भक्तिलाभ में सर्वाधिक स्थान दिया गया है । भागवत के भक्ति संबंधी श्लोकों का संकलन करते हुए विष्णुपुरी ने अपनी "भक्तिरत्नावली" में एक पूरी विरचना ही साधुसंगति को दी है ।[3] इस विरचना में कुल पैंसठ श्लोक हैं । इससे स्पष्ट है कि भागवत में सत्संग को कितना महत्व दिया गया है । तृतीय स्कंध में कपिल अपनी माता देवहूति को उपदेश देते हैं कि सत्पुरुषों की संगति से भगवान् के पराक्रमों का यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कान को प्रिय लगनेवाली कथाएँ सुनने को मिलती हैं । उनका श्रवण करने से भगवान् में श्रद्धा, रति और भक्ति का क्रमशः विकास होता है ।[4] एकादश स्कंध में भगवान् उद्धव से कहते हैं कि सत्संग जिस प्रकार मुझे वश में कर लता है, वैसा साधन न योग है, न सांख्य, न धर्मपालन है और न स्वाध्याय । व्रत, यज्ञ, तीर्थ, और यम - नियम भी सत्संग के समान मुझे वश में करने में समर्थ

---

1. कठोपनिषद् - प्रथमवल्ली, छान्दोग्योपनिषद् - 4.1-2
   बृहदारण्यकोपनिषद् 2.4
2. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
   उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनः तत्वदर्शिनः ।। गीता 4.34
3. भक्तिरत्नावली द्वितीय विरचना ।
4. सतां प्रसंगान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथा ।
   तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति ।। भाग 3.25.25

नहीं है ।[1] सत्संग की महिमा का वर्णन करते हुए आगे भगवान् कहते हैं कि दैत्य, गन्धर्व सिद्ध, विद्याधर, मनुष्य आदि सभी प्रकार के लोग केवल सत्संग की महिमा से मेरे भक्त बन गए हैं ।[2] भगवान् उस प्रसंग में ऐसे भक्तों की सूची भी प्रस्तुत करते हैं ।[3]

सत्संग से भगवद् भक्त बने नारद, प्रह्लाद, आदि की कथायें भी भागवत में विस्तार से प्रस्तुत हुई हैं । नारद पिछले जन्म में एक दासी पुत्र थे । उस समय कुछ महात्माओं के संग प्राप्त होने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था । उनके उपदेश के अनुसार तपस्या करके उस दासी पुत्र को भगवान् का ईषद् दर्शन मिलता है और भगवान् उन्हें वर देते हैं । वहाँ भगवान् की उक्ति

---

1. न राधेयति मां योगो न सांख्यं धर्म एव च ।
   न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो नेष्टापूर्तं न दक्षिणा ।।
   व्रतानि यज्ञच्छन्दांसि तीर्थानि नियमा यमाः ।
   यथावरुन्धे सत्संगः सर्वसंगापहो हि माम् ।। भाग. ।।. 12. 1-2
2. सत्संगेन हि दैतेया: यातुधाना: खगा: मृगा: ।
   गन्धर्वाप्सरसो नागा: सिद्धा: चारणगुह्यका: ।।
   विद्याधरा: मनुष्येषु वैश्या: शूद्रा: स्त्रियोऽन्त्यजा: ।
   रजस्तमप्रकृतय: तस्मिन् तस्मिन् युगेऽयुगे ।। भाग.।।. 12. 3-4
3. सुग्रीवो हनुमान् ऋक्षो गजो गृध्रो वणिक् पथः ।
   व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यः तथापरे ।।
   ते नाधीतश्रुतिगणा: नोपासितमहत्तमाः ।
   अव्रतातप्ततपसः सत्संगान्मामुपागताः ।। भाग. ।।. 12. 6-7

भी सत्संग की महत्ता को रेखांकित करनेवाली है । भगवान् नारद से कहते हैं कि अल्पकालीन संतसेवा से ही तुम्हारी चित्तवृत्ति मुझमें स्थिर हो गई है । अब तुम इस प्राकृत मलिन शरीर को छोडकर मेरे पार्षद हो जाओगे ।[1] प्रह्लाद ने तो माता के गर्भ में रहते समय इन्हीं नारद का संग प्राप्त किया था । फलत: वे परम भक्त बन गए ।[2]

नारदभक्तिसूत्र, शांडिल्यभक्तिसूत्र जैसे भक्तिसूत्रों ने भी सत्संग की महिमा स्वीकार की है ।[3] नारदभक्तिसूत्रों में भक्तिलाभ का मुख्य उपाय महत्कृपा बतलायी गयी है ।[4] यह इसलिए कि भगवान् और भगवान् के प्रेमीभक्त महात्माओं में भिन्नता नहीं है ।[5] इसलिए नारद ने सत्संग पाने का आदेश

---

1. सत्सेवयाऽदीर्घयापि जाता मयि दृढामति: ।
   हित्वाऽवद्यमिमं लोकं गन्ता मज्जनतामसि ।। भाग.1.6.24
2. ऋषि: कारुणिकस्तस्या: प्रादादुभयमीश्वर: ।
   धर्मस्य तत्वं ज्ञानं च मामप्युद्दिश्य निर्मलम् ।।
   तत्तु कालस्य दीर्घत्वात् स्त्रीत्वान्मातुस्तिरोदधे ।
   ऋषिणानुगृहीतं मां नाधुनाप्यजहात् स्मृति: ।। भाग.7.7.15-16
3. Other standard Bhakti texts like Narada Bhakri Sutras and Sandilya Bhakti Sutras also are unanimous in accepting the value of Sadhu Sanga.
   Bhakti Rethnavali - Commentary by Swami Tapasyananda-P.125
4. मुख्यतस्तु महत्कृपयैव भगवद्कृपालेशाद्वा । ना.भ.सू. 38
5. तस्मिंस्तज्जने भेदाभावात् । ना.भ.सू. 41

दिया है ।[1] माया तरण के उपाय बताते वक्त भी महात्मा का सेवन करना आवश्यक माना गया है ।[2] भक्तिरसामृतसिंधु में भी वैष्णवों की सेवा को भक्ति की सिद्धि के लिए आवश्यक बताया गया है ।[3] इन सबसे स्पष्ट है कि सत्संग भक्तिसाधनाओं में अद्वितीय स्थान का अधिकारी है ।

रामचरितमानस में भी सत्संग के महत्व को रेखांकित किया गया है । उत्तरकाण्ड में राम के ईश्वरत्व पर शंकालु गरुड के मोहनाश एवं भक्तिलाभ की कथा आयी है । उसमें सत्संग की महिमा स्पष्ट की गयी है । शिव ने गरुड से कहा कि सत्संग के बिना हरिकथा सुनने को नहीं मिलता है । हरिकथा सुने बिना मोह का नाश असंभव है । मोह गए बिना राम में अचल प्रेम नहीं होता है ।[4] शिव के कहे अनुसार काकभुशुण्डि के सत्संग में भाग लेने से गरुड सारी शंकाओं से मुक्त हो जाते हैं । काकभुशुण्डि ने उन्हें सत्संग की महिमा समझाते हुए यहाँ तक कहा कि :

मोरे मन प्रभु अस बिस्वासा । राम ते अधिक राम कर दासा ।।
राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चंदन तरु हरि संत समीरा ।।[5]

---

1. तदेव साध्यतां तदेव साध्यताम् । ना.भ.सू. 42
2. कस्तरति कस्तरति मायां यः संगं त्यजति यो महानुभावं सेवते निर्ममो भवति । ना.भ.सू. 46
3. सर्वदाश्रणापत्तिस्तदीयानां च सेवनम् ।
   तादीयाः तुलसीशास्त्रमथुरावैष्णवादयः ।। भ.र.सिं. 1.2.37
4. बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग ।
   मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ अनुराग ।। मानस. उत्त. 61
5. मानस . उत्त - 120.8,9

फिर वे कहते हैं कि ऐसा मानकर जो भी संतों का संग करता है उसके लिए श्रीराम की भक्ति सुलभ हो जाती है ।[1] इस प्रकरण के अन्त में भी शिव ने पार्वती से यह बात दोहराई है । इससे स्पष्ट है कि मानसकार साधना में सत्संग को कितना ऊँचा स्थान देते हैं । इसी प्रसंग में यह भी आया है कि ईश्वर की कृपा के बिना सत्संग नहीं मिलेगा ।[2] यह भी भक्तिशास्त्र की मान्यता के पूर्णतः अनुकूल है । नारद ने "लभ्यतेऽपि तत्कृपयैव"[3] कहकर सत्संग लाभ को ईश्वर कृपा के अधीन बताया है । श्रीमद्भागवत में भी सत्संग की प्राप्ति को भगवान् के अनुग्रह का फल माना गया है ।[4]

निरन्तर भजन

केवल सज्जनों का साक्षात्कार ही भक्तिलाभ में पर्याप्त हो, ऐसी बात नहीं है । वास्तविक सत्संग का तात्पर्य ही इससे कुछ भिन्न है । संगी वह है जो महात्मा के आचरणों का संग करता है ।[5] सत्संग से भगवान् और भक्ति के बारे में जानकर उस जानकारी के अनुसार जीवन बिताने से ही पराभक्ति की प्राप्ति होगी । इसीलिए भक्तिशास्त्र में सर्वत्र निरन्तर भजन का आह्वान दिया गया है ।

---

1. अस बिचारि जोइ कर सतसंगा । राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा ।।
   मानस - उत्त. 120.10
2. गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन ।
   बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुराना ।। मानस. उत्त. 125 (ख)
3. ना. भ. सू. 40
4. भागवत 10.40.28
5. कल्याण कुंज - भाग 2 - हनुमान प्रसाद पोद्दार - पृ. 18

श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय भक्तियोग में निरन्तर भगवान् में मन-बुद्धि लगाने का उपदेश दिया गया है ।[1] नवें अध्याय में भी इस दुःखपूर्ण एवं नश्वर संसार में रहकर निरन्तर भगवान् के ही भजन करने का उपदेश दिया गया है ।[2]

श्रीमद्भागवत में भजन पर अधिक प्रकाश डाला गया है । भागवत में परीक्षित् श्रीशुक से मनुष्य के परम कर्तव्य के बारे में पूछते हैं तो श्रीशुक उत्तर देते हैं कि भगवान् हरि का निरंतर श्रवण, कीर्तन एवं स्मरण ही मनुष्य का कर्तव्य है ।[3] अजामिल चरित्र में यमदेव मनुष्य का परम कर्तव्य भगवान् में भक्तियोग बताया है और उसका मार्ग भगवान् के नामस्मरणादि बताया है ।[4] एकादश स्कंध के भागवत धर्म संबंधी संवाद में भगवद्भजन के स्वरूप पर और भी प्रकाश डाला गया है । भगवान् के जन्म, कर्म, गुण आदि के श्रवण, कीर्तन एवं ध्यान को यहाँ प्रमुखता दी गयी है ।[5]

---

1. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । गीता 12.8
2. अनित्यमसुखं लोकं इमं प्राप्य भजस्व माम् । गीता 9.33
3. तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः ।
   श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ।। भाग. 2.1.5
4. एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्म परः स्मृतः ।
   भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ।। भाग. 6.3.22
5. श्रवणं कीर्तनं ध्यानं हरेरद्भुतकर्मणः ।
   जन्मकर्मगुणानां च तदर्थेऽखिलचेष्टितम् ।। भाग . 11.3.27

भक्तिसूत्रों में भी निरन्तर, भगवद् भजन पर जोर दिया गया है । शांडिल्यभक्तिसूत्रों में स्पष्ट कहा गया है कि पराभक्ति की प्राप्ति का साधन भजन है :

भक्त्या भजनोपसंहाराद् गौण्या परायै तद्धेतुत्वात् ।[1]

नारद ने भी अपने भक्तिसूत्रों में अनेक स्थानों पर भजन के लिए आदेश दिया है । भजन यदा कदा नहीं, निरन्तर होना चाहिए । नारदभक्ति-सूत्रों के तृतीय अध्याय "भक्तिसाधनानि" में इसका उल्लेख हुआ है ।[2] अन्तिम अध्याय में और भी ज़ोर देकर इस बात को दोहराया गया है कि सदा- सर्व भावों से निश्चिन्त होकर भगवान् का ही भजन करना चाहिए ।[3] इस दुनिया में जीवन बिताते वक्त यह निरन्तर भजन कैसे किया जा सकता है, यह भी नारद ने स्पष्ट किया है । लोक समाज में भी भगवद्गुणों के श्रवण और कीर्तन से भजनरूपी भक्ति-साधना संपन्न होती है ।[4]

भक्तिरसामृतसिंधु में भजन के विविध तरीकों का अत्यन्त ही विशद उल्लेख हुआ है । पूर्व विभाग की द्वितीय लहरी साधन भक्ति लहरी है । इसमें साधन भक्ति के अपरिगणित अंगों को स्वीकार करते हुए रूपगोस्वामी

---

1. शांडिल्य भक्तिसूत्र - 56 - स्वप्नेश्वर भाष्य
2. अव्यावृत्त भजनात् । ना.भ.सू. 36
3. सर्वदा सर्वभावेन निश्चिंतैर्भगवानेव भजनीयः । ना.भ.सू. 79
4. लोकेऽपि भगवद्गुणश्रवणकीर्तनात् । ना.भ.सू. 37

उसके प्रसिद्ध अंगों का उल्लेख करते हैं ।[1] श्रवण, कीर्तन, जप, प्रार्थना, ध्यान आदि को रूप गोस्वामी ने सूक्ष्मता के साथ विवेचित किया है । भगवान् के नाम, चरित्र, गुण आदि का सुनना श्रवण है ।[2] भगवान् के नाम तथा लीला आदि का ऊँचे स्वर में कथन करना कीर्तन है ।[3] मंत्र का मन्दस्वर से उच्चारण करना जप है ।[4] भगवान् के रूप, गुण और क्रीडा तथा सेवा आदि का भली प्रकार से चिन्तन ध्यान है ।[5]

गीता, भागवत, भक्तिसूत्र, भक्तिरसामृतसिंधु जैसे ग्रंथों में भजन के विविध तरीकों का जो वर्णन मिलता है, उनसे एक बात स्पष्ट है : भगवान् का निरन्तर स्मरण ही भजन का सार सर्वस्व है । श्रीरामकृष्ण परमहंस जैसे भक्तों के जीवन में भी हम देखते हैं कि उनके ध्यान, प्रार्थना आदि साधनाएँ निरन्तर भगवत्स्मरणरूपी थीं ।[6] भजन के इसी मूल तत्व को रूपगोस्वामी ने "स्मृति" कहा है जिसका तात्पर्य है - जिस किसी प्रकार से मन के साथ भगवान् का संबंध ।[7] भागवतकार ने भी भजन का सारांश इस प्रकार प्रस्तुत किया है -

---

1. हरिभक्तिविलासेऽस्याः भक्तेरंगानि लक्षशः
   किं तु तानि प्रसिद्धानि निर्दर्देश्यन्ते यथामतिः । भ. र. सिं. 1.2.22-23
2. श्रवणं नामचरितगुणादीनां श्रुतिर्भवेत् । भ. र. सिं. 1.2.51
3. नामलीलागुणादीनां उच्चैर्भाषा तु कीर्तनम् । भ. र. सिं. 1.2.48
4. मंत्रस्य सुलघूच्चारो जप इत्यभिधीयते । भ. र. सिं. 1.2.49
5. ध्यानं स्वगुणक्रीडासेवादेः सुष्ठुचिन्तनम् । भ. र. सिं. 1.2.52
6. Ramakrishna As we saw Him-EdSwami Chetanananda - P.14
7. यथा कथंचिन्मनसा संबन्धः स्मृतिरुच्यते । भ. र. सिं. 1.2.51

तस्मात् केनाप्युपायेन मनः कृष्णे निवेशयेत् ।[1]

रामचरितमानस में इस प्रकार के भजन का उल्लेख यत्र-तत्र मिलता है । मानस के चार वक्ताओं और तीन श्रोताओं के उदाहरण कीर्तन तथा श्रवण रूपी भजन के लिए प्रस्तुत किये जा सकते हैं । तुलसीदास, याज्ञवल्क्य, भगवान् शिव और काकभुशुंडि रामकथा के चार वक्ता हैं । इनके द्वारा कीर्तन रूपी साधना संपन्न होती है । मानस के भरद्वाज, पार्वती और गरुड श्रोता हैं । इनसे श्रवणरूप साधना संपन्न होती है । ये सब श्रवण कीर्तन रूपी निरन्तर भजन से भक्ति प्राप्ति के सुन्दर उदाहरण हैं ।

श्रवण और कीर्तन आदि से संपन्न होनेवाले निरन्तर भजन की महिमा अपार है । भगवान् शिव ने यह बताकर गरुड को काक भुशंडि के पास भेजा था कि वहाँ जाकर तुम सुन्दर हरिकथा सुनो जिसे मुनियों ने अनेकों प्रकार से गाया है और जिसके आदि, मध्य तथा अन्त में भगवान् श्रीरामचन्द्रजी ही प्रतिपाद्य प्रभु है ।[2] इस प्रकार नित्य हरिकथा का कीर्तन होनेवाले स्थान में जाकर उसे सुनने का फल राम चरण में अतिस्नेह बताया गया है ।[3] राम के निवास स्थानों की गणना करते हुए वाल्मीकि ने सर्वप्रथम यही बताया था कि जिनके कान समुद्र

---

1. भाग. - 7.1.31

2. सुनिअ तहाँ हरिकथा सुहाई । नाना भाँति मुनिन्ह जो गाई ।।
   जेहि महुँ आदि मध्य अवसाना । प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना ।।
   मानस - उत्त. 61.3

3. नित हरिकथा होत जहँ भाई । पठवउँ तहाँ सुनहु तुम्ह जाई ।।
   जाइहि सुनत सकल सन्देहा । राम चरन होइहि अति नेहा ।।
   मानस - उत्त. 61.4

की भाँति राम की सुन्दर कथारूपी अनेकों नदियों से निरन्तर भरते रहते हैं उनका हृदय राम के लिए सुन्दर घर है ।[1] कीर्ति की महिमा बतानेवाली वाल्मीकि की ही एक सुन्दर उक्ति है कि राम के यश रूपी निर्मल मानस सरोवर में जिसकी जीभ हँसिनी बनी हुई राम के गुण समूह रूपी मोतियों को चुगती रहती है, उसके हृदय में राम बसें ।[2] उसी प्रसंग में मंत्र जप,[3] ध्यान[4] आदि साधनाओं का भी उल्लेख मिलता है ।

कर्मों का समर्पणपूर्वक आचरण

भक्ति की प्राप्ति में कर्म भी सहायक है । निर्मल लक्ष्य को आगे रखकर कर्म करने से कर्मों को आध्यात्मिक साधना बनायी जा सकती है ।[5]

---

1. जिन्ह के श्रवन समुद्र समाना । कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना ।।
   भरहिं निरंतर होहिं न पूरे । तिन्ह के हिय तुम्ह कहुँ गृह रूरे ।।
   मानस - अयो. 128.2,3
2. जसु तुम्हार मानस बिमल हँसिनि जीहा जासु ।
   मुक्ताहल गुन गन चुनई राम बसहु हियँ तासु ।। मानस - अयो. 129
3. मंत्रराज नित जपहि तुम्हारा । मानस - अयो-129.3
4. जाति पाँति धनु धरमु बड़ाई । प्रिय परिवार सदन सुखदाई ।।
   सब तजि तुम्हहि रहइ उर लाई । तेहि के हृदयँ रहहु रघुराई ।
   मानस - अयो - 131.3
5. **Every act can be spiritualized when the motive becomes pure - Swami Sivananda . Essence of Yoga. P.22**

इस प्रकार कर्म करने से हृदय की शुद्धि प्राप्त होती है और व्यक्ति आध्यात्मिक दृष्टि से उन्नति प्राप्त करता है ।[1] इसीलिए शास्त्रों ने भक्ति की प्राप्ति में कर्मों को भी सहायक माना है ।

श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मों के आचरण पर अत्यधिक जोर दिया गया है । अर्जुन जब कर्म-विमुख होने लगे थे, तब भगवान् ने उन्हें कर्मोन्मुख बनाने के लिए गीता का उपदेश दिया था । किसी भी परिस्थिति में अपने धर्मों का त्याग वांछनीय नहीं है ।[2] अपने धर्म का अनुष्ठान भगवान् की आराधना है और उससे पापों का नाश होता है ।[3] इसी दृष्टि से श्रीमद्भगवद्गीता कर्मों के आचरण पर बल देती है । भगवद्गीता में भगवान् कहते हैं कि पुण्यकर्माचरण करनेवाले मनुष्यों के पापों का नाश होकर वे अनन्यता से मेरा भजन करते हैं ।[4] इसलिए अपने कर्मों से भगवान् की अर्चना करने का उपदेश दिया गया है :

यत: प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणातमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानव: ।।[5]

---

1. Work purifies the heart and so leads to Vidya (Wisdom) - The Complete Works of Swami Vivekananda - Vol.VII - P.39
2. Renunciation of one's own Dharma is under no circumstances proper - Gems of Truth.Vol.2 - Jayadayal Goyandka - P-26
3. स्वधर्मआराधनमच्युतस्य यदीहमानो विजहात्यघौघम् । भाग. 5.11.23
4. येषां त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम् ।
   ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता: भजन्ते मां दृढव्रता: ।। गीता 7.28
5. गीता - 18.46

इस प्रकार गीता कर्मों के भगवदर्पण पूर्वक अनुष्ठान को भक्ति-साधना के रूप में स्वीकार करती है ।

श्रीमद्भागवत में भी कर्मों को भक्ति की प्राप्ति में सहायक माना गया है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, भागवत ने स्वधर्माचरण को भगवान् की आराधना बताकर उसे पापक्षय का उपाय माना है । स्वधर्मानुष्ठान का आत्यन्तिक लक्ष्य भगवत्स्मरण ही होना चाहिए, यही भागवतकार का मत है ।[1] एकादश स्कंध में भगवान् उद्धव को सरल भागवत धर्म का उपदेश देते हैं । वहाँ सबसे पहले समस्त कर्मों को भगवदर्पणपूर्वक भगवत्स्मरण के साथ करने का ही उपदेश दिया गया है ।[2] भागवत में भगवान् में भक्ति उत्पन्न होने तक कर्मों का करना परम आवश्यक माना गया है ।[3] साथ ही भगवान् में प्रेम उत्पन्न करने में असमर्थ धर्मानुष्ठान की हँसी भी उडाई गई है ।[4]

अपने भक्तिसूत्रों में नारद ने भी कर्मों के आचरण पर ज़ोर दिया है । भक्ति-साधक के लिए आचरण करने योग्य कर्मों को नारद ने दो विभागों में

---

1. एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्मपरिनिष्ठया ।
   जन्मलाभः परः पुंसां अन्ते नारायणस्मृतिः ।। भाग.- 2.1.6
2. कुर्यात्सर्वाणि कर्माणि मदर्थं शनकैः स्मरन् ।
   मय्यर्पितमनश्चित्तो मद्धर्मात्ममनोरतिः ।। भाग.11.29.4
3. तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता ।
   मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते ।। भाग.11.20.9
4. धर्म स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
   नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।। भाग.1.2.8

विभक्त किया है । ये हैं - लोक व्यवहार एवं भक्ति वर्धक कर्म । लोकव्यवहार या लौकिक कर्मों के बारे में उनका कथन है कि पराभक्ति मिलने तक लौकिक कर्म कदापि त्याज्य नहीं है । प्रत्युत, फलत्यागपूर्वक उनका आचरण करना है ।[1] भक्ति की वृद्धि के लिए जो विशिष्ट कर्म हैं, उनमें साधन-भजन आदि आते हैं । अहिंसा, सत्य, शौच, आस्तिक्य आदि सद्गुणों का पालन भी अत्यन्त आवश्यक है ।[2]

भक्तिरसामृतसिंधु के प्रथम विभाग की साधनभक्तिलहरी में रूपगोस्वामी ने भी कर्मों को भक्ति साधना का अंग माना है ।[3] इस प्रकार स्पष्ट होता है कि भक्ति के सभी आचार्यों ने कर्म को भक्ति साधना का अंग माना है । यहाँ यह बात भी उल्लेखनीय है कि कर्म का स्वतंत्र रूप से महत्वपूर्ण उपयोग नहीं है ।[4] ईश्वरार्पित होने पर वह चित्तशुद्धि का कारण बनता है और भक्तिमार्ग में आगे बढने में सहायक बनता है ।

---

1. न तदसिद्धौ लोकव्यवहारो हेयः किन्तु
   फलत्यागः तत्साधनं च कार्यमेव । ना. भ. सू. 62
2. अहिंसा सत्यशौचदयास्तिक्यादि चारित्र्याणि परिपालनीयनि ।
   ना. भ. सू. 78
3. सम्मतं भक्तिविज्ञानां भक्त्यङ्गत्वं तु कर्मणाम् । भ. र. सिं. 1.2.66
4. ईश्वरार्पितं नेच्छया कृतं चित्तशोधकं मुक्तिसाधकम् । उपदेशसारम्,
   भगवान् रमण महर्षि - श्लोक 2

रामचरितमानस में भी स्वधर्माचरण को भक्तिलाभ में सहायक माना गया है । मानस में जिस युग का वर्णन है, उस युग में स्वधर्म वर्ण एवं आश्रम के आधार पर निर्णीत किया जाता था । इसलिए मानस में रामराज्य का वर्णन करते समय राम की प्रजा को वेदमार्ग पर अपने-अपने वर्ण और आश्रम के अनुकूल धर्म में लगी हुई दिखायी गई है ।[1] वर्णाश्रम धर्मों के अलावा भ्रातृधर्म, पत्नीधर्म, भृत्यधर्म आदि का पालन भी मानस के सारे भक्तों में परिलक्षित हुआ है । भरत ने राम वियोगजन्य असह्य पीडा सहते हुए भी अपना स्वधर्म - राज्यपालन - किया । लक्ष्मण भ्रातृधर्म का मानो मूर्तिमान रूप था । उन्होंने आदि से अन्त तक अनेकों कष्ट सहकर भी राम की सेवा की । सीता को स्त्रीधर्म और पत्नीधर्म का सुचारू ढंग से पालन करती हुई दिखाई गई है । उनकी स्वधर्मनिष्ठा के बारे में कहा गया है कि यद्यपि घर में बहुत-से दास और दासियाँ थे, तथापि सीता घर के सब कार्य अपने हाथों से करती थीं ।[2] हनुमान् भृत्यधर्म के आदर्श थे । उसी प्रकार सुग्रीव में सखाधर्म भी प्रकट हुआ है । सुग्रीव द्वारा राम कार्य की उपेक्षा हो जाने पर राम उन्हें दण्ड देने के लिए उद्यत हुए ।[3] इससे स्पष्ट है कि राम अपने भक्तों से स्वधर्म परिपालन की माँग करते थे । यह भी ध्यान देने योग्य है कि ये सारे भक्त अपने नियत कर्मों को राम के लिए समर्पण करके करते थे । इस समर्पण से पराभक्ति की प्राप्ति में सहायता मिलती है । इस प्रकार मानस के भक्तों के द्वारा स्वधर्माचरण रूपी साधना का भी पालन सम्यक् रूप से हुआ है ।

---

1. बरनाश्रम निज-निज धरम निरत बेद पथ लोग ।
   चलहि सदा पावहिं सुखहि नहिं भय सोक न रोग ।। मानस - उत्त. 20
2. जद्यपि गृहँ सेवक सेवकिनी । बिपुल सदा सेवा बिधि गुनी ।।
   निज कर गृह परिचरजा करई । रामचंद्र आयसु अनुसरई ।। मानस. उत्त. 24. 3
3. सुग्रीवहुँ सुधि मोरि बिसारी । पावा राज कोस पुर नारी ।।
   जेहिं सायक मारा मैं बाली । तेहिं सर हतौ मूढ कहँ काली ।। मानस -
   किष्कि. 18. 2, 3

भक्तिसाधना की श्रेष्ठता

परमात्मा की ओर जीव की प्रवृत्ति कैसे हो, इसके लिए आचार्यों ने भिन्न प्रकार के योगों का निर्देश दिया है । श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने इसके लिए कर्म और ज्ञान ये दो योग निर्दिष्ट किए हैं ।[1] गीता की इस उक्ति में भक्तियोग का उल्लेख न होने पर भी भक्तियोग गीताचार्य को मान्य था । गीता में भक्तियोग नामक एक अलग अध्याय है, इसी से यह बात स्पष्ट है । श्रीमद्भागवत में भगवान् ने भक्तियोग को भी प्रमुख स्थान दिया है और कुल मिलाकर तीन योग प्रस्तुत किये हैं ।[2] यहाँ भगवान् ने यद्यपि "नोऽपायोन्योस्ति कुत्तचित्", अर्थात् "इनके अलावा कोई चौथा उपाय नहीं है" कहा है फिर भी आचार्यों ने और भी योग मनुष्य की श्रेयप्राप्ति के लिए निर्णीत किए हैं । इनमें सर्वमान्य अंगीकार मिलनेवाला चौथा योग राजयोग है जो अकेले "योग" शब्द से भी व्यवहृत होता है । शांडिल्यभक्तिसूत्रों[3] और नारदभक्तिसूत्रों[4] में इसका उल्लेख हुआ है । आधुनिककाल के अप्रतिम आध्यात्मिक आचार्य स्वामी विवेकानन्द ने भी इन चार प्रकार के योगों को स्वीकार किया है ।[5]

इनमें भक्ति को भक्तिशास्त्र ने दूसरों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण

---

1. लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
   ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।। गीता 3.3
2. योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
   ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोऽपायोन्योस्ति कुत्रचित् ।।
3. योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् प्रयाजवत् । शा. सू. 19
4. सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योप्यधिकतरा । ना.भ.सू. 25
5. The Complete Works of Swami Vivekananda Vol.1. P.124

स्थापित किया है । इसके अनेक कारण भी प्रस्तुत किए गए हैं । रामचरितमानस में भी भक्ति को श्रेष्ठ सिद्ध किया गया है ।

कर्म से भक्ति की श्रेष्ठता

कर्म को भक्ति की प्राप्ति में सहायक मानते हुए भी भक्तिशास्त्र ने कर्म को भक्ति से निम्न कोटि की साधना मानी है । श्रीमद्भगवद्गीता में कर्म को अत्यन्त महत्व दिया गया है, इसमें कोई सन्देह नहीं है । फिर भी ऐसी उक्तियाँ भी गीता में मिलती हैं, जो कर्म को निचली श्रेणी प्रदान करती है । विश्वरूपदर्शनयोग नामक ग्यारहवें अध्याय में दो स्थानों में ऐसा हुआ है । पहले अठतालीसवें श्लोक में भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, तप, आदि क्रियाओं से मेरा यह विश्वरूप कोई भी देख नहीं पाता है ।[1] इसके बाद उसी अध्याय में कर्म के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता को घोषित करते हुए भगवान् कहते हैं कि वेदाध्ययन, यज्ञ, दान अथवा तप से मेरे विश्वरूप के दर्शन संभव नहीं है । अकेले अनन्य भक्ति से ही मेरे दर्शन, ज्ञान और प्राप्ति संभव होती है ।[2] गीता के चरमश्लोक में भगवान् यही घोषणा करते है कि समस्त धर्मों का परित्याग कर मेरी शरण में आ जाओ :

सर्वधर्मान् परित्याज्य मामेकं शरणं व्रज ।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।[3]

---

1. न वेदयज्ञाध्ययनैः न दानैर्नचक्रियाभिः न तपोभिरुग्रैः ।
   एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ।। गीता . ।।.48
2. नाहं वेदैर्न तपसा न ज्ञानेन न चेज्यया ।
   शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ।।
   भक्त्यात्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
   ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परंतप ।। गीता ।।.53-54
3. गीता - 18.63

श्रीमद्भागवत में भी भक्ति साधना को कर्मानुष्ठानों से अनेकगुना श्रेष्ठ बताया गया है । प्रह्लाद चरित में कर्मकांड की घोर निन्दा करनेवाली एक प्रसिद्ध उक्ति आयी है । जब हिरण्यकशिपु अपने पुत्र प्रह्लाद से पूछते हैं कि तुम्हारी पढी हुई सर्वश्रेष्ठ बात क्या है तब वे भक्त श्रेष्ठ कहते हैं कि आत्मा की अधोगति का मूल गृह को छोड वन में जाकर भगवद्भजन करना ही सर्वश्रेष्ठ बात है ।[1] प्रह्लाद आगे भी कहते हैं कि दान, तप, यज्ञ, व्रत आदि से नहीं, प्रत्युत भक्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं ।[2] स्वयं भगवान् का कथन है कि सत्य, दया आदि से युक्त धर्म भी अगर भक्ति से रहित है तो चित्तशुद्धि नहीं प्रदान करता है ।[3] और भी आगे बढकर भागवतकार कहते हैं कि स्वधर्म का त्याग करके भगवान् के भजन करनेवाले भक्त का यदि पतन ही हो जाय तो भी उनका कोई अमंगल नहीं होता ।[4]

भक्तिसूत्रों का मत भी इससे भिन्न नहीं है । "सा तु कर्म ज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा" कहकर नारदभक्ति सूत्रों ने भक्ति को कर्म से श्रेष्ठ

---

1. तत्साधुमन्येऽसुरवर्य देहिनां सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।
   हित्वात्मपातं गृहमंधकूपं वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ।। भाग. 7.55
2. न दानं न तपो नेज्या न शौचं न व्रतानि च ।
   प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम् ।। भाग. 7. 7. 52
3. धर्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
   मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ।। भाग. ।।. ।4. 22
4. त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणांबुजं हरेः भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि ।
   यत्र क्व वाऽभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तो भजतां स्वधर्मतः ।।
   भाग. ।. 5. ।7

बताया है । भक्तिरसामृतसिंधु में रूपगोस्वामी ने भी सशक्त भाषा में भक्ति को कर्म से श्रेष्ठ बताया है । वे कहते हैं कि भक्ति के अंगों का अनुष्ठान न करने पर तो दोष होता है, किन्तु कर्मों के न करने से कोई दोष नहीं होता ।[1] वे यहाँ तक कहते हैं कि संयोगवश निषिद्ध आचरण कर बैठने पर भी भक्ति के अधिकारी के लिए प्रायश्चित्त करना उचित नहीं है । क्योंकि उनकी भक्ति के बल पर ही उस पाप का निवारण हो जाता है । रूपगोस्वामी ने इसे वैष्णवशास्त्रों का सार माना है ।[2]

भक्तिशास्त्र में कर्म की अपेक्षा भक्ति को दी जानेवाली श्रेष्ठता मानस में भी पायी जाती है । कर्म फल को पूर्णतः ईश्वर के अधीन बतलाकर कर्म की स्वयं फल देने की शक्ति को मानसकार ने नकारा है ।[3] बुरा हो या भला, कर्म बन्धन का हेतु है । कर्मों की सीमा निर्धारित करते हुए ऋषि वसिष्ठ कहते हैं कि मैल से धोने से मैल नहीं छूटता है ।[4] भक्ति की उच्चावस्था में सब कर्मों का त्याग हो जाता है । राम का कथन है कि शुभ और अशुभ फल देनेवाले कर्मों को त्यागकर देवता, मनुष्य और मुनि मुझको भजते हैं ।[5]

---

1. अननुष्ठानतो दोषो भक्त्यंगानां प्रजायते ।
   न कर्मणामकरणे दोषो भक्त्यधिकारिणाम् ।। भ. र. सिं. 1.2.20-21
2. निषिद्धाचरणतो दैवात् प्रायश्चित्तं च नोचितम् ।
   इति वैष्णवशास्त्राणां रहस्यं तद्विदां मतम् ।। भ. र. सिं. 1.2.21-22
3. सुभ अरु असुभ करम अनुहारी । ईसु देइ फलु हृदयँ बिचारी ।। मानस. अयो. 77.4
4. छुटहि मल कि मलहि के धोएँ । घृत कि पाव कोइ बारि बिलोएँ ।।
   मानस - उत्त. 49.3
5. त्यागिहिं कर्म सुभासुभदायक । भजहिं मोहि सुर नर मुनि नायक ।।
   मानस - उत्त. 40.4

कर्म को अपने में पूर्ण साधन न मानते हुए भी भक्तिसाधना में उसके अंगत्व को मानसकार ने स्वीकार किया है ।[1] यह भक्तिशास्त्र के लिए स्वीकार्य भी है ।[2] इसप्रकार सत्कर्मों को भक्ति में सहायक स्वीकार करते हुए भी तुलसीदास ने भक्ति को कर्म से श्रेष्ठ ही ठहराया है ।

ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता

ज्ञानसाधना मुख्यत: बौद्धिक प्रक्रिया है । ज्ञान साधना के लिए तर्क, युक्ति, आदि की आवश्यकता है । इसलिए यह पंथ सीमित साधक वृन्द के लिए ही उन्मुक्त है । इसमें साधक ईश्वर के अव्यक्त रूप की उपासना करते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय भक्तियोग के आरंभ में ही अर्जुन भगवान् से यह प्रश्न करते हैं कि अव्यक्त की उपासना श्रेष्ठ है अथवा सगुण आराधना श्रेष्ठ है ? इसके उत्तर के रूप में भगवान् कहते हैं कि ज्ञानमार्गियों की अव्यक्तोपासना देहाभिमानियों के लिए अत्यन्त दुष्कर है ।[3] इसके विपरीत जो समस्त कर्मों का भगवदर्पण करके भगवान् का ध्यान करके उनकी आराधना में लगे रहते हैं, उनका उद्धार भगवान् स्वयं करते हैं ।[4]

---

1. रामचरितमानस में भक्ति - डा. सत्यनारायण शर्मा - पृ. 155
2. सम्मतं भक्तिविज्ञानां भक्त्यंगत्वं तु कर्मणाम् । भ. र. सिं. 1.2
3. क्लेशोऽधिकतरस्तेषां अव्यक्तासक्तचेतसाम् ।
   अव्यक्ता हि गतिर्दु:खं देहवद्भिरवाप्यते ।। गीता 12.3
4. ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्परा: ।
   अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ।।
   तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात् ।
   भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ।। गीता 12.4,5

श्रीमद्भागवत में तो अनेक स्थानों पर भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ स्थापित किया गया है । भागवत दशम स्कंध के ब्रह्मस्तुति नामक चौदहवें अध्याय में इस तथ्य की सुन्दर प्रस्तुति हुई है । ब्रह्मा श्रीकृष्ण की स्तुति करते हुए ज्ञान मार्ग की हँसी उडाते हैं । वे कहते हैं कि भगवान् की भक्ति सब प्रकार के कल्याण का मूल स्रोत - उद्गम है । जो लोग उसे छोडकर केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं, उनको बस क्लेश ही क्लेश हाथ लगता है - जैसे थोथी भूसी कूटनेवाले को केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं ।[1] भागवतकार के मत में भगवद्भक्ति के बिना नैष्कर्म्य सिद्धि रूपी अमल आत्मज्ञान भी निष्प्रयोजन है ।[2] इसलिए आत्माराम जीवन्मुक्त ऋषि-मुनि लोग भी भगवान् में अहैतुकी भक्ति रखते हैं ।[3] भगवान् स्वयं कहते हैं कि मेरे भक्तों के लिए ज्ञान से कोई कल्याण प्राप्तव्य नहीं है ।[4]

भक्तिसूत्रों ने ज्ञान के ऊपर भक्ति को प्रतिष्ठित करने में सर्वाधिक सफलता प्राप्त की है । शांडिल्य ने अपने भक्तिसूत्रों में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर की भक्ति न होना ही सांसारिक बन्धन का कारण है । सांसारिक

---

1. श्रेयः श्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
   तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद् यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ।। भाग.10.14.4
2. नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरंजनम् ।। भाग.1.15.13
3. आत्मारामाश्चमुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
   कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थंभूतगुणो हरिः ।। भाग.1.7.10
4. तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
   न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भविष्यति । भाग.11.20.31

बन्धन का कारण ईश्वर-ज्ञान का अभाव नहीं है । इसको स्थापित करने के लिए उन्होंने श्रुति के एक मंत्र[1] को प्रमाणरूप मानकर यह सूत्र लिखा :

ज्ञानमिति चेन्न, द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थिते ।[2]

—श्रुतिमंत्र के संस्था शब्द का अर्थ "ज्ञान" नहीं, भक्ति है ।[3]

इस प्रकार शांडिल्य ने कल्याण का एकमात्र उपाय भक्ति सिद्ध की है ।

नारदभक्तिसूत्रों में ज्ञान और भक्ति का सूक्ष्म अध्ययन नौ सूत्रों में किया गया है । नारद ने कुछ आचार्यों का मत उद्धृत करके कहा है कि ज्ञान भक्ति का साधन मात्र है ।[4] अर्थात् ज्ञान से भक्ति की प्राप्ति होती है । कुछ आचार्य कहते हैं कि ज्ञान और भक्ति एक दूसरे पर आश्रित है ।[5] परन्तु नारद के अनुसार भक्ति स्वयं फलरूपा है ।[6] इसका तात्पर्य है कि भक्ति ही साधन है और भक्ति ही साध्य है । इसलिए भक्ति ज्ञान से अवश्य श्रेष्ठ है ।

---

1. ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति । छा.उ. 2.23.2
2. शांडिल्य सूत्र . 4
3. शाडिल्य सूत्र.4 पर स्वप्नेश्वर भाष्य ।
4. तस्याः ज्ञानमेव साधनमित्येके । ना.भ.सू. 28
5. अन्योन्याश्रयत्वमित्यन्ये । ना.भ.सू. 29
6. स्वयंफलरूपतेति ब्रह्मकुमारः । ना.भ.सू. 30

अब इस विषय पर भक्तिरसामृतसिंधु के मत की परीक्षा करें । भक्ति की परिभाषा में ही रूपगोस्वामी कहते हैं कि वह "ज्ञानकर्माद्यनावृत", अर्थात् ज्ञान, कर्म, आदि से अनाच्छादित है । आगे साधनभक्तिलहरी में वे इसकी विशद चर्चा करते हैं । वे कहते हैं कि ज्ञान {और वैराग्य} भक्ति के किंचित् पूर्व उत्पन्न होते हैं किन्तु भक्ति के अंग बनने योग्य नहीं है । ज्ञान {और वैराग्य} की भक्ति में प्रवेश के लिए कुछ उपयोगिता होती है ।[1] ज्ञान से जो भी लाभ होते हैं, वे सभी भक्ति से ही प्राप्त हो जाते हैं । अतः भक्तिरसामृतसिंधु के अनुसार भी भक्ति ज्ञान से श्रेष्ठ है ।

भक्ति के बारे में विचार करनेवाले प्रायः सभी लोगों ने भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ ठहराया है । नारायणीयम् के रचयिता मेप्पत्तूर नारायण भट्टपाद ने अनेक तर्क देकर भक्ति को ज्ञान से श्रेष्ठ ठहराया है । उनकी राय में तर्क के क्लिष्ट मार्ग में चलकर ब्रह्म की प्राप्ति की इच्छा रखनेवालों के मन में कभी भी आर्द्रता उत्पन्न नहीं होती है । वे अनेक जन्मों के बाद ही कल्याण प्राप्त करते हैं ।[2] इसके विपरीत भक्ति में तो भगवान् के कथारस में निमग्न होकर भक्त तुरन्त ही कल्याण प्राप्त करते हैं, अतः वह सद्यः सिद्धिकरी है ।

---

1. ज्ञानवैराग्ययोः भक्तिप्रवेशायोपयोगिता ।
   ईषत् प्रथममेवेति नाङ्गत्वमुचितं तयोः ।। भ. र. सिं. 1.2.67
2. क्लिष्ट्वा तर्कपथे परंतव वपुर्ब्रह्माख्यमन्ये पुनः
   चित्तार्द्रत्वमृते विचिन्त्य बहुभिः सिद्ध्यन्ति जन्मान्तरैः ।। नारायणीय 2-9
3. त्वद्भक्तिस्तु कथारसामृतझरी निर्मज्जनेन स्वयम्
   सिद्ध्यन्ती विमलप्रबोध पदवीमक्लेशतस्तन्वती ।
   सद्यः सिद्धिकरी जयत्यपि विभो सैवास्तु मे त्वत्पद-
   प्रेमप्रौढ़िरसार्द्रता द्रुततरं वातालयाधीश्वर ।। नारायणीय - 2.10

लीलाशुक ने वेद-वेदान्त के घोर विपिन में ब्रह्मतत्व का अन्वेषण करके भटकनेवालों को गोकुल के श्रीकृष्णरूपी उपनिषद् ब्रह्म की उपासना का उपदेश दिया है ।[1] इस प्रकार वे ज्ञान के ऊपर भक्ति का महत्व सुन्दर ढंग से स्थापित करते हैं ।

भक्तिशास्त्रकारों की इस मान्यता को मानसकार ने भी स्वीकारा है । मानस में अनेक स्थानों में आया है कि भक्ति साधना का फल भक्ति ही है । इसलिए मानस में आये प्रायः सारे भक्त भक्ति को प्राप्त करके चरितार्थ हो जाते हैं । इस दृष्टि से ज्ञान का स्थान भक्ति के नीचे हैं । अरण्य-काण्ड के राम-लक्ष्मण संवाद में ज्ञान को भक्ति की प्राप्ति का साधन माना गया है :

ईश्वर जीव भेद प्रभु सकल कहौ समुझाइ ।
जाते होइ चरन रति सोक मोह भ्रम जाइ ।।[2]

उसी प्रकार ज्ञान से भक्ति की श्रेष्ठता बालकाण्ड में वर्णित हुई है । श्रीराम और लक्ष्मण को देखकर ब्रह्मज्ञानी जनक मुग्ध हो जाते हैं । यह घटना भक्ति की श्रेष्ठता को रेखांकित करनेवाली है । ब्रह्मनिष्ठा के कारण राजा जनक का मन "सहज बिराग रूप" बन गया था । फिर भी राम को देखकर वह "थकित" हो जाता है - जैसे चन्द्रमा को देखकर चकोर ।[3]

---

1. वरमिममुपदेशमाद्रियध्वं निगमवनेषुनितान्तचारखिन्नाः ।
विचिनुत भवनेषु वल्लवीनां उपनिषदर्थमुलूखले निबद्धम् ।।
श्रीकृष्णकर्णामृत - 2.28

2. मानस - अर. 14

3. सहज बिराग रूप मनु मोरा । थकित होत जिमि चंद चकोरा ।।
मानस - बाल - 216.2

भक्ति को ज्ञान से ऊँचा स्थान मिलने का एक और कारण है । वह भगवान् की दैन्य प्रियता - दीनवत्सलता - है । भक्ति में भगवान् के आगे भक्त अपने को दीन मानते हैं । इससे वे भगवान् को प्रिय लगते हैं । इसके विपरीत ज्ञानमार्गी आरंभ से ही, अनुभूति मिलने से पूर्व ही, अपने को ब्रह्म मानते हैं । नारदभक्तिसूत्रकार की दृष्टि में इस प्रकार का अभिमान ईश्वर की कृपा पाने में असमर्थ है ।[1]

इस तथ्य का रामचरितमानस में विस्तृत विवेचन हुआ है । स्वयं राम ने उत्तरकाण्ड में प्रजा को उपदेश देते हुए कहा है कि ज्ञान दुर्गम है और उसमें अनेक विघ्न हैं । उसका साधन कठिन है और उसमें मन के लिए कोई आधार नहीं है । यह मार्ग राम को प्रिय नहीं है, यह भी स्वयं उनके श्रीमुख से निकला है :

ग्यान अगम प्रत्यूह अनेका । साधन कठिन न मन कहुँ टेका ।।
करत कष्ट बहु पावइ कोऊ । भक्ति हीन मोहि प्रिय नहिं सोऊ ।।[2]

भगवान् की दैन्य-प्रियता के अनेक प्रसंग भरत-विलाप प्रकरण में मिलते हैं । भरत की भक्ति दैन्य का मानो स्वरूप थी ।[3] इस प्रकार की भक्ति

---

1. ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वात् दैन्यप्रियत्वाच्च । ना.भ.सू. 27
2. मानस - उत्त - 45.2
3. मोहि समान को पाप निवासू । जेहि लगि सिय राम बनवासू ।।
   राय राम कहु कानन दीन्हा । बिछुरत गमनु अमरपुर कीन्हा ।।
   मैं सठ सब अनरथ कर हेतू । बैठ बात सब सुनउ सचेतू ।।
   बिनु रघुबीर बिलोकि अबासू । रहे प्रान सहि जग उपहासू ।। मानस.अया.179-

के आगे सारे ज्ञानी ऋषि-मुनियों की बुद्धि कुंठित होती थी । इन सबके परे श्रीराम को इन्हीं की दीनतायुक्त भक्ति सर्वाधिक अच्छी लगती थी । स्पष्ट है कि मानस में तुलसी दास्य भाव युक्त भक्ति का प्रतिपादन करते हैं और इसके उदय से "आपा" अथवा अहंकार का विनाश बतलाते हैं ।[1] नारदभक्तिसूत्र जैसे ग्रंथों में ज्ञान के ऊपर भक्ति की श्रेष्ठता इसी बात के आधार पर सिद्ध की गयी है । इन सबसे सिद्ध होता है कि तुलसी ने "ग्यानिहि भगतिहि नहिं कछु भेदा" कहते हुए भी भक्ति को ज्ञान से अधिक प्रधानता दी है ।[2]

योग से भक्ति की श्रेष्ठता

योग मार्ग में चित्त का निरोध ही प्रमुख है ।[3] इसके लिए अष्टांग योग का अभ्यास करना पडता है । इसमें पहली पाँच बाह्य साधनायें एवं अन्तिम तीन आन्तरिक साधनायें हैं । बाह्यसाधनाओं में सिद्धि प्राप्त करने पर ही आन्तरिक साधनाओं के अभ्यास का अधिकार मिलता है ।[4] योग साधना के संबंध में पतंजलि महर्षि कहते हैं कि इसका अभ्यास दीर्घकाल तक निरन्तर करने से ही इसमें प्रतिष्ठा मिल सकती है ।[5]

---

1. भारतीय साधना और सन्त तुलसी - हर स्वरूप माथुर - पृ. 28।
2. गोस्वामी तुलसीदास - जीवन: दर्शन: साहित्य - रामदत्त भरद्वाज - पृ. 388
3. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: । योगसूत्र - 1.2
4. When the external practices are fully accomplished capacity for internal practices is developed.
   Puja Tattva - Mahamahopadhyaya - Dr.Gopinath Kaviraj-P.222
5. स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि: । योगसूत्र - 1.14

श्रीमद्भगवद्गीता के छठे अध्याय में योग साधना के प्रमुख अंग ध्यान का विस्तृत वर्णन है । आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार जैसे योगांगों का भी उल्लेख इस अध्याय में मिलता है । परन्तु समूचा वर्णन सुनने पर अर्जुन की प्रतिक्रिया यह थी कि मन के चंचल स्वभाव के कारण मुझसे दीर्घकाल तक इस योग का अभ्यास संभव नहीं दीख पडता है ।[1] तब भगवान् भी बताते हैं कि आत्मसंयम प्राप्त करने पर ही यह योग प्राप्य हो सकता है, अन्यथा नहीं ।[2]

श्रीमद्भागवत में भी भगवान् ने योग के द्वारा मन को शमित करना कठिन बताया है । वहाँ वे कहते हैं कि भक्ति के द्वारा जिस प्रकार मन को वश में कर लिया जा सकता है, वैसे यम, नियम आदि योग साधनाओं से संभव नहीं है ।[3] एकादश स्कंध में भगवान् फिर कहते हैं कि जिस प्रकार भक्ति से मेरी साधना की जा सकती है, वैसे योग आदि से संभव नहीं है ।[4] इन्हीं कारणों से भागवत में योग साधना को भगवत्प्राप्ति में सहायक मानते हुए भी भक्ति साधना

---

1. योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।
   एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात्स्थितिं स्थिराम् ।। गीता 6.33
2. असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः ।
   वश्यात्मनातुयतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः ।। गीता - 6.36
3. यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः ।
   मुकुन्दसेवया यद्वत् तथाऽत्माऽद्धा न शाम्यति ।। भाग. - 1.6.36
4. न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
   न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ।। भाग. 11.14.20

की अपेक्षा निम्न श्रेणी का माना गया है ।[1] राजयोग के अभ्यास से सिद्धियाँ उत्पन्न होती हैं, जिनके बारे में भी भागवत में भगवान् ने चेतावनी दी है, क्योंकि सिद्धियाँ आत्मकल्याण के लिए विघ्न रूप हैं । उस संदर्भ में भी भगवान् ने भक्तियोग को राजयोग की अपेक्षा उत्तम माना है ।[2]

जैसा कि पहले दिखाया गया है, भक्तिसूत्रों में भी भक्ति को योग से श्रेष्ठ बताया गया है । नारद ने स्पष्ट कहा है कि भक्ति, योग से अधिक श्रेष्ठ है । शांडिल्य ने योग को भक्ति में सहायक ही माना है,[3] भक्ति के समान या उससे अधिक महत्वपूर्ण कदापि नहीं कहा है । भक्तिरसामृत-सिंधु में यम, नियमादि योगांगों को भक्त के लिए स्वतः सिद्ध मानकर भक्ति को योग से श्रेष्ठ स्थापित किया गया है ।[4]

भक्तिशास्त्र के इन कथनों के अनुरूप रामचरितमानस में भी योग से बढकर भक्ति को श्रेष्ठ स्थापित किया गया है । श्रीराम की भक्ति की अपेक्षा अपने योग आदि को तुच्छ मानकर उनकी निन्दा करनेवाले मुनियों का चित्रण इसका एक उदाहरण है । भरत के साथ वन में आये हुए अयोध्यावासियों

---

1. तथाऽपरे चात्मसमाधियोग - बलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठम् ।
   त्वामेव धीराः पुरुषा विशन्ति तेषां श्रम स्यान्न तु सेवया ते । भाग 3.5.46
2. उद्धवगीता . 10.33 - Commentory by Swami Madhavananda
3. योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् प्रयाजवत् । शा.सू. 19
4. कृष्णोन्मुखं स्वयं यान्ति यमाः शौचादयस्तथा ।
   इत्येषां च न युक्तास्याद् भक्त्यंगान्तरमातिता ।। भ.र.सिं. 1.2.76-77

की प्रेममयी वाणी सुनकर ज्ञानी मुनि अपने योग और वैराग्य की निन्दा करते हैं ।[1] उत्तर-कांड के ज्ञान दीपक के प्रसंग में ऋद्धि सिद्धियों के द्वारा होनेवाले पतन की बातें कही गयी हैं ।[2] यह भी परोक्ष रूप से योग मार्ग की कठिनाइयों का संकेत है । स्पष्ट है, मानसकार भक्ति को ही योग की अपेक्षा श्रेष्ठ मानते हैं ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि कल्याण की साधनाओं में भक्ति ही श्रेष्ठ है । इसलिए भक्तिसूत्रों में नारद ने कहा कि मुमुक्षुओं को ग्रहण करने योग्य साधना भक्ति ही है ।[3] मानसकार ने साधन के रूप में भक्ति की महत्ता को रेखांकित करते हुए कहा है कि जब तक मनुष्य छल छोडकर कर्म, वचन और मन से भगवान् का दास नहीं बनता, तब तक करोडों उपाय करने से भी स्वप्न में भी वह सुख नहीं पाता ।[4]

यह हुई साधना भक्ति की स्थिति । अब साध्यरूप पराभक्ति के महत्व का भी विवेचन आवश्यक रह जाता है ।

---

1. सुनि सनेहमय पुरजन बानी । निंदहिं जोग बिरति मुनि ग्यानी ।।
   मानस - अयो. 274.1
2. रिद्धि सिद्धि प्रेरइ बहु भाई । बुद्धिहि लोभ दिखावहिं आई ।।
   मानस - उत्त. 118.4
3. तस्मात् सैव ग्राह्या मुमुक्षुभिः । ना.भ.सू. 33
4. करम बचन मन छाडि छलु जब लगि जन न तुम्हार ।
   तब लगि सुखु सपनेहुँ नहीं किए कोटि उपचार ।। मानस - अयो. 107

पराभक्ति का महत्व

भक्तिशास्त्र में पराभक्ति, निर्गुण भक्ति, साध्यभक्ति, आदि नामों से जिस भक्ति का विवेचन किया गया है वह मनुष्य जीवन का चरम साध्य है । उसे प्राप्त करने के साधन के रूप में ही साधना भक्ति की चर्चा की गयी है परमप्रेमरूपा और अमृतस्वरूपा पराभक्ति ही इन सारी साधनाओं का साध्य है । नारदभक्तिसूत्रों में कहा गया है कि इसे प्राप्त करके साधक सिद्ध हो जाता है, अमर हो जाता है और तृप्त हो जाता है ।[1] ऐसे भक्त कामना, शोक, द्वेष आदि के ऊपर उठ जाते हैं ।[2] उनको अपने ही भीतर स्थित भगवान् में विद्यमान सुख प्राप्त होता है, वे आत्माराम बन जाते हैं ।[3]

शांडिल्य ने ऐसी भक्ति के अभाव को ही सांसारिक बन्धन बताकर भक्ति को परम साध्य माना है ।[4] भक्तिरसामृतसिंधु में रूपगोस्वामी ने भक्ति को "मोक्षलघुताकृत्", अर्थात् मोक्ष को भी तुच्छ बना देनेवाली, कहकर भक्ति को परम पुरुषार्थ मोक्ष से भी ऊँची श्रेणी दी है ।[5] मोक्षलघुताकृत् पद की व्याख्या करते हुए वे आगे कहते हैं कि हृदय में भगवान् का तनिक भी प्रेम उत्पन्न होते ही

---

1. यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति अमृतो भवति तृप्तो भवति । ना. भ. सू. 4
2. यत्प्राप्य न किंचिद् वांछति, न शोचति, न द्वेष्टि, नोत्साही भवति । ना. भ. सू. 5
3. यत् ज्ञात्वा मत्तो भवति, स्तब्धो भवति, आत्मारामो भवति । ना. भ. सू. 6
4. संसृतिरेषामभक्तिः स्यान्नाज्ञानात् कारणासिद्धेः । शा. सू. 98
5. भ. र. सिं. 1.1.13

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप चारों पुरुषार्थ तृण के समान अत्यन्त तुच्छ हो जाते हैं ।[1] भक्ति को सान्द्रानन्दविशेषात्मा विशेषण देते हुए रूपगोस्वामी बताते हैं कि यदि मोक्षरूपी परमानंद को असंख्यगुणा कर दिया जाय तो भी भक्ति -सुख के सागर के एक परमाणु की बराबरी भी वह नहीं कर सकता ।[2]

भागवत में भक्ति को मनुष्य का परम लक्ष्य माननेवाली अनेक उक्तियाँ प्राप्त होती हैं । उनके अनुसार व्यक्ति को परम शान्ति प्रदान करनेवाली अहैतुकी भक्ति ही मनुष्य का परम धर्म है ।[3] दान, व्रत, तप, होम जप, स्वाध्याय आदि सब साधनाओं का फल केवल भक्ति है यही भागवत का मत है ।[4] स्वयं भगवान् का कथन है कि मेरे भक्त-जन सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य आदि दिये जाने पर भी स्वीकार नहीं करते हैं । उन्हें केवल मेरी सेवा ही प्रिय है ।[5] मेरे एकान्त भक्त कैवल्य रूपी मोक्ष की भी

---

1. मनागेव प्ररूढायां हृदये भगवद्व्रतौ ।
   पुरुषार्थास्तु चत्वारस्तृणायन्ते समन्ततः ।। भ. र. सिं. ।।. 17-18
2. ब्रह्मानन्दो भवेदेष चेत् परार्द्धगुणीकृतः ।
   नैति भक्तिसुखांभोधेः परमाणुतुलामपि ।। भ. र. सिं. ।. ।. 19-20
3. स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
   अहैतुक्यापृतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ।। भाग.- ।. 2. 6
4. दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
   श्रेयोभिर्विविधैः चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ।। भाग.- 10. 47. 24
5. सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
   दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।। भाग. 3.29.13.

इच्छा नहीं रखते हैं ।[1] उल्टे, कैवल्य को प्राप्त हुए आत्माराम ऋषि-मुनि भी भगवान् में भक्ति रखते हैं ।[2]

रामचरितमानस में भी भक्ति की प्राप्ति में जीवन की सफलता मानी गयी है । राम से मिलने के लिए प्रस्थान करनेवाले भरत तीर्थराज त्रिवेणी-संगम से यही प्रार्थना करते हैं कि मुझे न अर्थ की इच्छा है, न धर्म की, न काम की और न मैं मोक्ष ही चाहता हूँ, बस जन्म जन्म में मेरे श्रीराम के चरणों में प्रेम हो, यही वर मुझे दीजिए ।[3] मानसकार ने श्रीराम के चरणों में प्रेम होना ही समस्त सुन्दर मंगलों का मूल माना है ।[4] अरण्यकाण्ड में लक्ष्मण को उपदेश देते हुए श्रीराम स्वयं कहते हैं कि भक्ति स्वतंत्र है, उसको ज्ञान-विज्ञान आदि किसी दूसरे साधन की अपेक्षा नहीं है । ज्ञान और विज्ञान तो उसके अधीन है । भक्ति अनुपम है, सुख की मूल है ।[5]

ऐसी महत्त्वपूर्ण भक्ति की महिमा के कुछ विशिष्ट कारणों पर भी यहाँ प्रकाश डाला जाता है ।

---

1. न किंचित्साधवो धीराः भक्ताह्येकान्तिनो मम ।
   वांछन्त्यपि मया दत्तं कैवल्यमपुनर्भवम् ।। भाग ।।.20.34
2. आत्मारामाश्चमुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे ।
   कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिं इत्थंभूतगुणो हरिः ।। भाग.- ।.7.10
3. अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहउँ निरबान ।
   जनम जनम रति राम पद यह बररदानु न आन ।। मानस.अयो. 204
4. सकल सुमंगल मूल जग रघुबर चरन सनेहु । मानस - अयो. 207
5. सो सुतंत्र अवलंब न आना । तेहि आधीन ग्यान विग्याना ।।
   भगति तात अनुपम सुख मूला । - मानस - अरण्य - ।6.2

1. भक्ति भेदभाव - रहित है :

वर्ण व्यवस्था आदि के समर्थक आचार्यों ने ही कहा है कि भक्ति में धर्म, वर्ण, जाति, वंश आदि भेदों का कोई स्थान नहीं है । शांडिल्य ने अपने भक्तिसूत्रों में लिखा है कि निन्द्य मानी जानेवाली जातियों में जन्मे लोग भी भक्ति के अधिकारी हैं ।[1] श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति की चर्चा के प्रसंग में इसी आशय का एक श्लोक आया है कि भक्ति का आश्रय लेकर वैश्य, शूद्र और निम्न श्रेणी के अन्य जातिवाले भी परम पद प्राप्त करते हैं ।[2] नारद भक्तिसूत्रों के अनुसार भक्ति में जाति, विद्या, रूप, कुल, धन, कर्म आदि के आधार पर भक्तों का बँटवारा नहीं है ।[3] इसका कारण यह है कि सारे भक्त भगवान् के हैं ।[4] ब्राह्मण हो या शूद्र, पढा-लिखा हो या अनपढ़, सुन्दर हो या कुरूप, उच्चकुल का हो या नीच कुल का, धनवान् हो या दरिद्र, श्रेष्ठ कर्म करनेवाला हो या निकृष्ट कर्म करनेवाला, सारे भक्त एक समान हैं । क्योंकि उन सबको भगवान् अपनाते हैं ।

भक्तिरसामृतसिंधु में भी मनुष्य मात्र को भक्ति में अधिकार बताया गया है । वसिष्ठ के कथन को प्रमाण रूप मानकर रूपगोस्वामी

---

1. आनिन्द्ययोन्यधिक्रियते पारम्पर्यात् सामान्यवत् । शा.भ.सू. 78
2. मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
   स्त्रियो वैश्यास्तथाशूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।। गीता - 9.32
3. नास्ति तेषु जातिविद्यारूपकुलधनक्रियादि भेदः । ना.भ.सू. 72
4. यतस्तदीयाः । ना.भ.सू. - 73

कहते हैं कि शास्त्र के अनुसार भक्ति में मनुष्यमात्र का, अर्थात् द्विजाति से भिन्न शूद्र का भी अधिकार है ।[1] वे शास्त्रों से अपने कथन के प्रमाण भी उद्धृत करते हैं ।

भक्ति में भेद राहित्य के विषय में श्रीमद्भागवत भी सहमत है । भागवत के अनुसार उत्तम कुल में जन्म, सुन्दरता, वाक्चातुरी, बुद्धि और श्रेष्ठ योनि - इनमें कोई भी गुण भगवत्कृपा का कारण नहीं हो सकता है ।[2] भागवत के भक्तराज प्रह्लाद यहाँ तक कहते हैं कि भगवान् के चरण कमलों से विमुख ब्राह्मण अन्य सारे गुणों से युक्त होने पर भी एक भक्त चण्डाल से भी निकृष्ट है ।[3] अध्यात्मरामायण में भगवान् श्रीरामचन्द्र ने स्पष्ट कहा है कि पुरुषत्व-स्त्रीत्व का भेद अथवा जाति, नाम और आश्रम - ये कोई भी मेरे भजन के कारण नहीं है ।[4] अद्भुतरामायण में भी शूद्रादि को भक्ति से भगवत्प्राप्ति सुलभ बतायी गयी है ।[5]

---

1. शास्त्रतः श्रूयते भक्तौ नृमात्रस्याधिकारिता ।
   सर्वाधिकारितां माघस्नानस्य ब्रुवता यतः ।। भ. र. सिं. 1.2.19
2. न जन्म नूनं महतो न सौभगं
   न वाङ् न बुद्धिर्नकृतिस्तोषहेतुः । भाग. 8 - 19.7
3. विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
   पादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् ।
   मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थ-
   प्राणां पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः । भाग. 7.9.10
4. पुंस्त्वे स्त्रीत्वे विशेषो वा जातिनामाश्रमादयः।
   न कारणं मद्भजने भक्तिरेव हि कारणम् ॥ अध्यात्मरामायण - 3.10.20
5. अन्येऽपि ये विकर्मस्थाः शूद्राद्याः नीचजातयः ।
   भक्तिमंतः प्रमुच्यन्ते कालेन मयि संगताः ।। अद्भुतरामायण - 13.11

जाति-पाँति व ब्राह्मण-शूद्र के वर्ग-भेद संबंधी मान्यताओं के कठोरता से पालन करने का निर्देश देनेवाले तुलसी भी भक्त के लिए उनकी उपेक्षणीयता के आदर्श की स्थापना के लिए प्रयत्नशील हैं ।[1] स्वयं तुलसी के राम ने जाति आदि की श्रेष्ठता को भक्ति के आगे नगण्य माना है । अरण्य कांड में शबरी से मिलते वक्त राम कहते हैं कि जाति-पाँति, कुल, धर्म, बडाई, धन, बल, कुटुम्ब, गुण और चतुरता इन सब के होने पर भी भक्ति से रहित मनुष्य जलहीन बादल के समान शोभाहीन है ।[2] मानस के अनेक पात्रों में इस भेद-भाव राहित्य के प्रमाण मिलते हैं । मानस के निषाद राज गुह को क्षत्रिय और राजवंशी भरत आलिंगन करते हैं ।[3] राक्षस विभीषण को वानरों के बीच स्थान मिलता है ।[4] शबरी को मुनि मतंग शिक्षा देते हैं ।[5] इन सब प्रसंगों में भक्ति के कारण जाति, कुल, धन आदि के भेदों से ऊपर उठे हुए भक्तों के व्यवहार वर्णित हैं । इसलिए समत्व भावना की दृष्टि से भी भक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ सिद्ध होती है ।

---

1. तुलसी का भक्ति दर्शन - डा. श्रीमति शान्ता सिंह । (तुलसीदास: विभिन्न दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य - पृ.129)
2. जाति पाँति कुल धर्म बडाई । धन बल परिजन गुन चतुराई ।।
   भगति हीन नर सोहइ कैसा । बिनु जल बारिद देखिअ जैसा ।।
   मानस - अरण्य. 35.3
3. करत दंडवत देखि तेहि भरत लीन्ह उर लाई । मानस - अयो. 193
4. निज जन जानि ताहि अपनावा । प्रभु सुभाव कपि कुल मन भावा ।
   मानस - सुन्दर - 50.1
5. सबरी देखि राम गृह आए । मुनि के बचन समुझि जियँ भाए ।।
   मानस - अरण्य - 33.3

2. भक्ति लोकमंगल करती है :

भक्त अपने इष्टदेव में आदर्श- पूर्णत्व मानता है । अतः वह आप ही आप आदर्श की ओर खिंचा चला जाता है ।[1] इस प्रकार भगवान् के प्रेमी भक्त समाज के लिए आदर्श खडा करते हैं । श्रीमद्भगवद्गीता में कहा गया है कि श्रेष्ठ व्यक्तियों को आदर्श बनाकर लोग उनका अनुकरण करते हैं ।[2] भागवत में भक्त के द्वारा होनेवाले लोक मंगल का वर्णन अनेक स्थानों पर मिलता है । भागवत के एकादश स्कंध में भगवान् कहते हैं कि मेरे भक्त अपने विविध भक्तिपूर्ण आचरणों से दुनिया को पवित्र करते हैं ।[3] भागवतकार ने भक्तों को तीर्थों को भी पवित्र करनेवाला बताया है ।[4] जिनके हृदय में साक्षात् भगवान् का वास हैं वे ही तीर्थों में पवित्रता की सृष्टि करते हैं ।[5] भागवत के भक्तोतम प्रह्लाद तो असहायों के लिए अपनी मुक्ति को भी त्याग देने के लिए तैयार होते हैं । लोक मंगल की भावना से प्रेरित होकर वे भगवान् से कहते हैं कि बडे बडे ऋषि मुनि तो प्रायः अपनी मुक्ति के लिए निर्जन वन में जाकर मौन व्रत धारण करते हैं और

---

1. तुलसी दर्शन - डा. बलदेव प्रसाद मिश्र - पृ. 75
2. यद्यदाचरति श्रेष्ठः तत्तदेवेतरोजनः ।
   स यत् प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ।। गीता - 3.21
3. वाग्गद्गदा द्रवते यस्य चित्तं रुदत्यभीक्ष्णं हसति क्वचिच्च ।
   विलज्ज उद्गायति नृत्यते च मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति ।। भाग. ।।. ।4. 24
4. तेषां विचरतां पद्भ्यां तीर्थानां पावनेच्छया । भाग. 4. 30. 37
5. भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो ।
   तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तस्थेन गदाभृता ।। भाग. ।. ।3. ।0

दूसरों की भलाई के लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते । परन्तु मेरी दशा तो दूसरी है । मैं इन भूले हुए असहाय गरीबों को छोडकर अकेला मुक्त नहीं होना चाहता ।

नारदभक्तिसूत्र भी भक्त के द्वारा होनेवाले लोकमंगल का उल्लेख करते हैं । "भक्तमहिमा" नामक चतुर्थ अध्याय में आया है कि गद्गद् कण्ठ, रोमांच एवं हर्षाश्रु से युक्त भक्त परस्पर वार्तालाप करते हुए अपने कुल एवं पृथ्वी को पवित्र करते हैं ।[2] भक्तों के सान्निध्य से पुण्यतीर्थों की सृष्टि होती हैं, उनके कर्म जनता को सत्कर्म सिखाते हैं और भक्तों की अनुभूति आध्यात्मिक शास्त्रों की सत्यता प्रमाणित करती हैं ।[3] अध्यात्मरामायण में भी आया है कि भगवद्भक्त संपूर्ण लोक को भगवद्धर्म के अमृत वर्षण से पवित्र कर देते हैं ।[4] इस प्रकार सिद्ध होता है कि भक्ति सदा लोकमंगल से युक्त रहती है ।

---

1. प्रायेण देव मुनयः स्वविमुक्तिकामाः मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः ।
   नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये ।।
   भाग - 7.9.44
2. कण्ठावरोधरोमांचाश्रुभिः परस्परं लपमानाः पावयन्ति कुलानि पृथिवीं च ।
   ना.भ.सू. 68
3. तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि सुकर्मीकुर्वन्ति कर्माणि सच्छास्त्रीकुर्वन्ति शास्त्राणि ।
   ना.भ.सू. 69
4. लोके त्वद्भक्तिनिरताः त्वद्धर्मामृतवर्षिणः ।
   पुनन्ति लोकमखिलं किं पुनः स्वकुलोद्भवान् ।। अध्यात्मरामायण - 1.7.43

तुलसी ने भी राम के माध्यम से संपूर्ण विश्व को कल्याण का मार्ग खोल दिया है ।[1] तुलसी के भक्तिपथ पर चलनेवाले व्यक्तियों का "पर" से विमुख होना संभव नहीं है ।[2] तुलसीदास ने भरत में अपने आदर्श मानव की सृष्टि की है । अतः उनकी भक्ति में समाज को दिशा निर्देश देनेवाले समस्त तत्व मिलते हैं । धरती में धार्मिक आचरण के आदर्श के रूप में भरत प्रस्तुत हुए हैं । मानस की अनेक पंक्तियों में इसके प्रमाण हैं । स्वयं श्रीराम का कथन है कि यह पृथ्वी स्वयं भरत की ही रक्खी रह रही है ।[3] भरत की भक्ति सिद्ध और साधक, दोनों प्रकार के लोगों को प्रेरणा-स्रोत बनी ।[4] उसी प्रकार पुण्य-तीर्थों की सृष्टि एवं सत्कर्मों की शिक्षा भी भरत से संपन्न हुई है । भरत के द्वारा अनेक तीर्थ स्थानों की सृष्टि हुई - यह बात इस प्रकार वर्णित है -

जिति सुरसरि कीरति सरि तोरी । गवनु कीन्ह बिधि अंड करोरी ।।
गंग अवनि थल तीन बडेरे । एही किए साधु समाज घनेरे ।।[5]

अर्थात् भरत की कीर्तिरूपी नदी देवनदी गंगा को भी जीतकर करोडों ब्रह्माण्डों में बह चली है । गंगा ने तो पृथ्वी पर तीन स्थानों को बडा तीर्थ बनाया है । पर भरत की इस कीर्तिनदी ने तो अनेकों सन्त समाज

---

1. तुलसीदास: जीवनी और विचारधारा - डा. राजाराम रस्तोगी - पृ. 400
2. तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन - डा. श्रीधर सिंह - पृ. 60
3. कहउँ सुभाउ सत्य सिव साखी । भरत भूमि रह राउरि राखी ।।
   मानस - अयो. 264
4. निरखि सिद्ध साधक अनुरागे । सहज सनेहु सराहन लागे । मानस. अयो. 238.4
5. मानस - अयो - 287.2

रूपी तीर्थस्थान बना दिये हैं । भरत के द्वारा सत्कर्म की शिक्षा के बारे में वसिष्ठ का यह कथन उद्धरण करने योग्य है कि भरत जो कुछ करेंगे, समझेंगे और कहेंगे वे ही जगत् में धर्म का सार होंगे ।[1]

3. भक्ति देव, पितर आदि को भी सन्तुष्ट करती है :

देवताओं और पितरों का भी रंजन पराभक्ति से संभव होता है । जब कोई व्यक्ति पराभक्ति प्राप्त करता है तब पितर गण एवं देवतागण सन्तुष्ट होते हैं ।[2] नारदभक्तिसूत्रों की यह मान्यता श्रीमद्भागवत को भी स्वीकार्य है । प्रह्लाद की भक्ति के परिणाम स्वरूप उनके पिता के साथ उनके इक्कीस पीढियों के पितर भी पवित्र हुए, ऐसा भागवत में कहा गया है ।[3] भीष्मपितामह की भक्ति के कारण सन्तुष्ट होनेवाले देवताओं का चित्रण भागवत के प्रथम स्कंध में मिलता है ।[4]

देवलोक, पितृलोक आदि उपरिलोकों में भक्ति के प्रभाव से होनेवाला मंगल मानस में भी चित्रित किया गया है । भक्ति के द्वारा अपने पितरों को भवसागर से पार करानेवाला पात्र है केवट । वे भगवान् से उनके

---

1. समुझब कहब करब तुम्ह जोई । धरम सारु जग होइहि सोई ।। मानस - 323.4
2. मोदन्ते पितरो नृत्यन्ति देवता सनाथा चेयं भूर्भवति । ना.भ.सू. 71
3. त्रिः सप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
   यत्साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुलपावनः ।। भाग. 7.10.18
4. तत्र दुन्दुभयो नेदुर्देवमानववादिताः ।
   शशंसुः साधवो राज्ञां खात्पेतुः पुष्पवृष्टयः ।। भाग.- 1.9.45

पद प्रक्षालन की अनुमति प्राप्त करते हैं । भगवान् के चरणों को धोकर और सारे परिवार सहित स्वयं उस चरणोदक को पीकर वे अपने पितरों को भवसागर से पार कराते हैं ।[1] भक्ति से देवताओं को प्राप्त होनेवाला आनन्द भी इसी प्रसंग में देखने को मिलता है । केवट जब भगवान् के चरण धोते हैं तब सब देवता फूल बरसाते हैं और उनके पुण्य की प्रशंसा करते हैं ।[2] देवताओं को भक्ति के द्वारा आनन्दित करनेवाली अनेक घटनायें भरत के आचरणों में आयी हैं । ऋषि भरद्वाज के मुख से भरत की भक्ति की प्रशंसा सुनकर देवगण आनन्दित होते हैं और फूल बरसाते हैं ।[3] नारदभक्तिसूत्रों में कहा गया है कि भक्तों के कारण देवता आनन्दित होकर नाचते हैं - नृत्यन्ति देवताः । यह बात मानस के भक्त पात्र दशरथ के संबंध में अक्षरशः सत्य हुई है :

सुतन्ह समेत दशरथहि देखी । मुदित नगर नर नारि बिसेषि ।।
सुमन बरिसि सुर हनहिं निसाना । नाकनटीं नाचहिं करि गाना ।।[4]

---

1. पद पखारि जल पान करि आपु सहित परिवार ।
   पितर पार करि प्रभुहि पुनि मुदित गयउ लेई पार ।। मानस - अयो. 101
2. बरषि सुमन सुर सकल सिहाहीं । एहि सम पुन्य पुंज कोउ नाहीं ।।
   मानस - अयो. 101.4
3. सुनि मुनि बचन सभासद हरषे । साधु सराहि सुमन सुर बरषे ।।
   धन्य धन्य धुनि गगन पयागा । सुनि सुनि भरतु मगन अनुरागा ।।
   मानस - अयो. 210.4
4. मानस - बाल - 309.2

निष्कर्ष

भक्तिशास्त्र के अनुसार जीवन का लक्ष्य पराभक्ति की प्राप्ति है । उसकी प्राप्ति में साधनायें सहायक हैं, फिर भी भगवत् कृपा ही उसकी सिद्धि का अन्तिम कारण है । या, यों कहिए कि साधनाओं से भगवत् कृपा के अधिकारी बनकर साधक-भक्त पराभक्ति प्राप्त करते हैं । इन साधनाओं में सर्व प्रमुख सत्संग है, क्योंकि सत्संग से ही भगवान् के बारे में जान लेना संभव होता है । साधनाओं के बारे में जानकारी मिलना महात्मा भक्तों से ही संभव है । अतः समूचे भक्तिशास्त्रग्रंथों में सत्संग की महिमा रेखांकित की गयी है । रामचरित-मानस में भी अनेक प्रसंगों में दृष्टांत तथा उपदेशों से सत्संग की महत्ता व्यक्त की गयी है । दुस्संग से होनेवाले अधःपतन को दिखाकर शास्त्रों ने उसके त्याग पर जो जोर दिया है, वह मानस में भी परिलक्षित हुआ है । कैकेयी का एक उदाहरण ही इसके लिए पर्याप्त है । कर्म समर्पण, निरन्तर भजन, जैसी जितनी ही अन्य भक्ति साधनायें भक्तिशास्त्र में निर्दिष्ट हुई हैं, वे सब मानस में भी आयी हैं । उसी प्रकार कर्म, ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति साधना की श्रेष्ठता भी मानस में भक्तिशास्त्रोक्त ढंग में स्थापित की गयी है । भक्तिशास्त्र ने पराभक्ति को जीवन का चरम लक्ष्य माना है । स्वधर्माचरण रूपी कर्मनिष्ठा, ब्रह्मज्ञान अथवा योगसमाधि आदि को जीवन का लक्ष्य मानना उसे अभीष्ट नहीं है । मानस में भी ऐसा ही हुआ है । मानस में भक्ति को जीवन का चरम लक्ष्य माननेवाले भक्तों की कोई कमी नहीं है । स्वयं तुलसीदास भी भक्ति को ही परम लक्ष्य मानते थे, इसके प्रमाण मानस में प्राप्त होते हैं । पराभक्ति की श्रेष्ठता के अनेक कारण हैं - जैसे भेदभावना का अभाव, लोक मंगल की सिद्धि आदि । इनका जो विवेचन मानस में आया है, वह भी भक्तिशास्त्र के ग्रंथों की उक्तियों से पूर्णतः मेल खाता है ।

उपसंहार

भारत की एक अध्यात्म-प्रधान संस्कृति है । जीवन के लक्ष्यों और उस लक्ष्य तक पहुँचने के मार्गों का अन्वेषण प्राचीनतम काल से ही लेकर भारतीय मनीषियों का मुख्य चिन्तन विषय रहा है । उनके प्राचीनतम साहित्य वेदों से लेकर समस्त संस्कृत साहित्य में आध्यात्मिक विषयों का समावेश इसी का परिणाम है । आध्यात्मिक अन्वेषणों के फलस्वरूप ईश्वर एवं जीव तथा उनके संबंधों की विविध दार्शनिक मान्यताएँ यहाँ प्रस्तुत हुईं । जीव और ईश्वर के आपसी संबंध को प्रेम रूपा माननेवाली भक्ति को तो यहाँ सर्वाधिक महत्व प्राप्त हुआ । स्वामी विवेकानन्द जैसे आचार्यों के अनुसार यह भक्ति प्राचीनतम वैदिक साहित्य में उपनिषदों में ही प्रकट हुई है । आगे इतिहास, पुराण, आगम आदि ग्रंथों में यह और भी अधिक स्पष्ट, सूक्ष्म एवं विशद रूप से प्रतिपादित होने लगी । महाभारतान्तर्गत श्रीमद् भगवद्गीता में भक्ति की विशद चर्चा प्राप्त होती है । समस्त पुराणों में भक्ति ही को मुख्यता दी गई है । पुराणों में श्रीमद्भागवत तो भक्ति का सर्वांगीण वर्णन करनेवाली अनुपम रचना है । भक्ति का शास्त्रीय विश्लेषण और भक्तों के चरित्रों के द्वारा उसकी विशद प्रस्तुति भागवत की अपनी विशेषता है । भागवत का लक्ष्य ही भगवान् की लीलाओं के वर्णन से भक्ति की पुष्टि करना है ।

भक्ति की चर्चा के निमित्त संस्कृत में कुछ सूत्र-ग्रंथ लिखे गए हैं । इनमें शांडिल्यभक्तिसूत्र एवं नारदभक्तिसूत्र अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं । शांडिल्यभक्तिसूत्र में श्रुति-प्रमाण एवं तर्कों के सहारे भक्ति को ज्ञान के ऊपर प्रतिष्ठित किया गया है । उसमें ग्रंथकार यह सिद्ध करते हैं कि भक्ति न होना ही सांसारिक बंधन का कारण है । नारदभक्तिसूत्रकार ने तो इस प्रकार के तर्क आदि पर अधिक ज़ोर न देकर भक्ति के अत्यंत व्यावहारिक पहलुओं को

प्रस्तुत किया है । हाँ, वहाँ भी भक्ति की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए कुछ सैद्धान्तिक तर्क दिए गए हैं, परन्तु मुख्यतः नारदभक्तिसूत्र का ध्येय भक्ति का व्यावहारिक पक्ष है । पराभक्ति को मुख्य रूप से चर्चित करते हुए ग्रंथकार ने भक्तिसाधनाओं का भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन प्रस्तुत किया है ।

चैतन्यमहाप्रभु के शिष्य रूपगोस्वामी का भक्तिरसामृतसिंधु मुख्यरूप से भक्ति रस का काव्यशास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करनेवाला ग्रंथ होने पर भी भक्तिशास्त्र की दृष्टि से भी वह कम महत्वपूर्ण नहीं है । उसके पूर्व विभाग की चार लहरियों में भक्ति रस की नहीं वरन् भक्तिमात्र की चर्चा हैं । सामान्य भक्ति, साधन भक्ति, भाव भक्ति और प्रेमभक्ति के वर्णन से भक्तिरसामृतसिंधु ने भक्तिशास्त्र के लिए महत्वपूर्ण योगदान दिए हैं । इस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत, शांडिल्यभक्तिसूत्र, नारदभक्तिसूत्र एवं भक्तिरसामृतसिंधु भक्तिशास्त्र के अत्यन्त प्रामाणिक ग्रंथ सिद्ध होते हैं ।

हिन्दी साहित्य के पूर्व मध्यकाल में प्रचुर मात्रा में भक्ति काव्य लिखे गये । यह काल "भक्तिकाल" नाम से जाना जाता है । भारत की जो समृद्ध आध्यात्मिक परंपरा थी और उसमें भी भक्ति की जो अटूट धारा वैदिक काल से ही लेकर बहती आ रही थी, उसी की अभिव्यक्ति इस काल के हिन्दी साहित्य में हुई । इसके विपरीत उसे ईसाईयों की देन अथवा मुसलमानों के द्वारा हारी गयी हिन्दू जाति के असहाय चित्त की प्रतिक्रिया मानना युक्तिसंगत नहीं है । वास्तव में भक्ति की यह धारा दक्षिण भारत से उत्तर की ओर आयी थी । हिन्दी साहित्य के भक्त कवियों के निर्माण में स्वामी रामानंद

तथा महाप्रभु वल्लभाचार्य का महत्वपूर्ण योगदान है । रामानन्द रामभक्ति शाखा के तथा वल्लभाचार्य कृष्णभक्तिशाखा के आचार्य हैं । रामानन्द का प्रभाव हिन्दी निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी शाखा पर सर्वाधिक था तो वल्लभाचार्य ने अष्टछाप के कृष्णभक्त कवियों पर अपना प्रभाव डाला ।

भक्तिकाल के हिन्दी काव्य निर्गुण भक्ति काव्य तथा सगुणभक्तिकाव्य ऐसे दो प्रकार के थे । निर्गुण भक्ति की ज्ञानाश्रयी तथा प्रेमाश्रयी ये दो शाखाएँ थीं, जिनके प्रमुख कवि क्रमशः कबीर एवं जायसी हुए । कबीर जैसे सन्त कवियों ने मौलिकता के साथ भक्ति, ज्ञान, योग, सदाचार, समाज सुधार आदि विषयों पर अपने मत प्रकट किए तो जायसी जैसे सूफी सन्तों ने सूफी तत्वों एवं भारतीय कथानकों के मिश्रण से प्रेमाख्यान काव्य लिखे । सगुण भक्ति की कृष्णभक्तिशाखा में सूरदास और अष्टछाप के अन्य कवि, मीराबाई, रसखान आदि हुए जिन्होंने कृष्ण को इष्टदेव मानकर भक्तिपदों की रचना की । रामभक्तिशाखा में गोस्वामी तुलसीदास एक ऐसे कवि हुए जिन्होंने मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र की गाथा विभिन्न शैलियों में अनेक ग्रंथों के द्वारा प्रस्तुत करके जनमानस में भक्ति भाव का उन्मेष कर दिया । उन्होंने भगवान् राम के शील, सौंदर्य एवं शक्ति का अनुपम वर्णन रामचरितमानस, विनयपत्रिका, दोहावली, गीतावली जैसे ग्रंथों में प्रस्तुत किया और श्रीराम की भगवत्ता एवं भक्तवत्सलता को अनन्य शैली में प्रतिपादित किया । तुलसी का रामचरितमानस संपूर्ण रामकथा का आख्यान करनेवाला एक महाकाव्य है जो भक्ति से संबंधित विषयों का समग्र, सूक्ष्म एवं विशद वर्णन प्रस्तुत करता है । भगवान् के तत्व, अवतार, भक्तों के चरित, भक्ति के सिद्धांत एवं साधन आदि भक्ति से संबंधित समस्त विषय इसमें

सुचारू ढंग से चर्चित हैं । भक्ति का स्वरूप, भक्ति के भेद, भक्ति का महत्व, भक्ति साधनाएँ आदि भक्तिशास्त्र के सारे विषय इसमें चर्चित हुए हैं । मानस में प्रेमा भक्ति को मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है और भक्ति साधना को उस लक्ष्य तक ले चलनेवाला सबसे सरल और श्रेष्ठ मार्ग बताया गया है । इन बातों में मानसकार ने भक्तिशास्त्र का अनुसरण किया है ।

भक्ति के स्वरूप के बारे में भक्तिशास्त्र में जो बातें कहीं गई हैं वे मानस में भी यथावत् प्रस्तुत हुई है । जैसे पहले कहा जा चुका है, भक्तिशास्त्र में पराभक्ति को प्रमुखता दी गई है । उसके स्वरूप के बारे में भक्तिशास्त्र में विशद चर्चा मिलती है । पराभक्ति को प्रेमस्वरूपा मानकर भक्तिशास्त्र ने उसका स्वरूप विश्लेषित किया है । भगवान् में अनन्यता और आत्मसमर्पण उसकी स्वरूपभूत विशेषताएँ हैं । इस भक्ति में निरन्तर भगवत्स्मृति बनी रहती है । यह निष्कामरूपा तथा उपास्यसुखोन्मुखी है । भक्ति का स्वरूप विश्लेषित करते हुए भक्तिशास्त्र में बताया गया है कि भक्ति में द्वेष का स्थान नहीं है, वह शान्तिरूपा है । वह परमानन्दरूपा और अमृतस्वरूपा भी है ।

रामचरितमानस की भक्ति का स्वरूप भी बिलकुल इसी प्रकार का है । मानस की भक्ति का मूल तत्व ही राम-प्रेम है । मानसकार ने इसे "राम प्रेम पीयूष" कहा है जिससे भक्ति का अमृतस्वरूपत्व सिद्ध होता है । अपने इष्टदेव में अनन्यता के साथ दूसरों के प्रति द्वेषहीनता भी मानस की भक्ति में परिलक्षित हुई है । मानस में तुलसी ने समन्वय पर सर्वाधिक जोर दिया है,

यह सुविदित बात है । साथ ही केवल वर्षा जल से ही सन्तुष्ट होनेवाले चातक के समान राम-रूप से ही सन्तुष्ट होनेवाली अनन्य निष्ठा भी मानस की भक्ति की विशेषता है । इस प्रकार अनन्य निष्ठा एवं समन्वय दृष्टि का सामंजस्य करना आसान बात नहीं है । स्वयं प्रतिभावान् कवि एवं प्रेमी भक्त होने के कारण ही तुलसी इसमें सफल हो सके हैं ।

मानस की भक्ति का स्वरूप अखंड भगवत्स्मरण है, यह समस्त भक्त पात्रों से स्पष्ट है । नाम स्मरण एवं लीला स्मरण मानस की भक्ति की अन्तर्धारा है । उसी प्रकार मानस के सारे भक्तों में प्रभु के सुख की चिंता ही प्रकट हुई है, अपने सुख की तनिक भी चिंता नहीं है । भरत, लक्ष्मण, सीता, दशरथ, हनुमान्, गुह जैसे जितने ही रामप्रेमी भक्त मानस में आए हैं उन सब की भक्ति का स्वरूप यही उपास्यसुखसपेक्षिता है । मानस के सभी प्रेमी भक्तों की भक्ति इस प्रकार निष्कामरूपा सिद्ध होती है । यह भक्ति शान्तिरूपा एवं परमानन्दरूपा है । स्पष्ट है, मानस की भक्ति का स्वरूप पूर्ण रूप से भक्तिशास्त्र सम्मत है ।

भक्ति के भेदों के चित्रण में भी रामचरितमानस भक्तिशास्त्र का अनुसरण करता है । भक्तिशास्त्र में भक्ति का वर्गीकरण विभिन्न आधार पर किया गया है । मोटे तौर पर उसके दो भेद हैं : परा एवं गौणी । पराभक्ति जीवन का लक्ष्य है जबकि गौणी भक्ति भिन्न लक्ष्यों की प्राप्ति का साधन है । ये लक्ष्य भौतिक लाभ भी हो सकते हैं, मुक्ति भी हो सकती है अथवा पराभक्ति भी हो सकती हैं । इसे भक्तिरसामृतसिंधुकार ने साधनभक्ति कही है ।

भागवत में पराभक्ति को निर्गुण भक्ति कहकर त्रिगुणों से प्रभावित गौणी भक्ति से उसकी भिन्नता प्रतिपादित की गई है । भक्तिशास्त्र में इन दो प्रकार की भक्तियों का पुनः वर्गीकरण भी मिलता है । पराभक्ति के भागवतोक्त नवधा वर्गीकरण, नारद भक्तिसूत्रोक्त एकादशधा वर्गीकरण और भक्तिरसामृतसिंधु में कहा गया पंचधा वर्गीकरण प्रमुख हैं । गीता के आर्तादि भेद और भागवत के तामसादि भेद गौणी भक्ति के भेद हैं । पराभक्ति के वर्गीकरणों में नारदभक्ति-सूत्र का एकादशधा वर्गीकरण सर्वातिशायी है क्योंकि उसमें अन्य दोनों ही प्रकार के वर्गीकरण स्वयं समाविष्ट हुए हैं ।

मानस में भक्ति के उपर्युक्त सारे भेद परिलक्षित हुए हैं । भक्ति के परा एवं गौणी भेद मानस में आए हैं । मानस के सारे प्रमुख भक्त पात्र राम में पराभक्ति रखनेवाले हैं । उनमें पराभक्ति के ग्यारहों भेदों के उदाहरण प्राप्त होते हैं । प्रायः समस्त भक्तों में गुणमाहात्म्यासक्ति, रूपासक्ति और स्मरणासक्ति प्रकट हुई हैं । साथ ही कुछ विशिष्ट पात्रों में पराभक्ति के कुछ भेद विशेष रूप से प्रकट हुए हैं । भरत की पूजासक्ति, लक्ष्मण की दास्यासक्ति, गुह की सख्यासक्ति, दशरथ की वात्सल्यासक्ति, सीता की कान्तासक्ति, विभीषण की आत्मनिवेदनासक्ति, सुतीक्ष्ण की तन्मयतासक्ति आदि उल्लेखनीय हैं । परमविरहासक्ति भरत में प्रकट हुई है । वास्तव में मानस के भरत एक ऐसे प्रेमी भक्त हैं जिनमें कान्तासक्ति को छोडकर पराभक्ति की बाकी सभी भेद एक साथ प्रकट हुए हैं । स्पष्ट है, तुलसीदास का आदर्श भक्त भरत ही है ।

रामचरितमानस में गौणी भक्ति के तामस आदि भागवतोक्त भेद तथा आर्त आदि गीतोक्त भेद को भी स्थान मिला है । कालनेमि की तामस भक्ति, रावण की राजस भक्ति एवं अहल्या की सात्त्विक भक्ति गौणी भक्ति के भागवतोक्त भेदों के उदाहरण हैं । सुग्रीव की आर्त भक्ति, गरुड की जिज्ञासा भक्ति और मनु-शतरूपा की अर्थार्थी भक्ति गौणी भक्ति के गीतोक्त भेदों के उदाहरण हैं ।

आध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में कर्म, भक्ति, ज्ञान, योग आदि कल्याण के जितने ही मार्ग बताए गए हैं उन सब में भक्ति ही श्रेष्ठ हैं, यह भक्तिशास्त्र का मत है । भक्तिशास्त्र में भक्ति को साध्य एवं साधन दोनों दृष्टियों से विवेचित किया गया है । साधन की दृष्टि से भक्ति का विवेचन करते हुए भक्तिशास्त्रकारों ने अनेक भक्ति साधनाएँ प्रस्तुत की हैं । भक्ति साधनाओं में विषयभुक्ति एवं विषयासक्ति का त्याग, अधम भावों का उदात्तीकरण, दुस्संग का त्याग आदि निषेधात्मक साधनाएँ तथा सत्संग, निरंतर भजन, कर्मों का भगवदर्पण आदि विध्यात्मक साधनाएँ प्रमुख हैं । इन सब का समावेश रामचरितमानस में भी हुआ है । भरत का त्यागमय तपोनिष्ठ जीवन विषय त्याग का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत करता है । उन्हीं का राज्य शासन समर्पण-पूर्वक कर्माचरण का दृष्टांत प्रस्तुत करता है । मंथरा की संगति से कैकेयी का अधःपतन दिखाकर मानसकार दुस्संग के खतरों का वर्णन करते हैं और उसके त्याग की आवश्यकता बताते हैं । लक्ष्मण, गुह आदि में क्रोधादि भावों को भी भगवत्सेवा में लगाकर उनके उदात्तीकरण का उदाहरण प्रस्तुत किया गया है ।

कर्म, ज्ञान, योग आदि की अपेक्षा भक्तिसाधनाओं की श्रेष्ठता भक्तिशास्त्र में रेखांकित की गई है । कर्मकांड की जटिलता, ज्ञानमार्ग की नीरसता एवं योग की क्लिष्टता भक्ति साधना में नहीं है । वह सरल, सरस एवं सुगम है । मानसकार ने भी इसी मत को व्यक्त किया है । कर्म से भक्ति को श्रेष्ठ बताने में तुलसी ने कोई कसर नहीं की है । ज्ञानमार्गी जनक को श्रीराम के सुन्दर रूप में मुग्ध दिखाकर ज्ञान से बढकर भक्ति को श्रेष्ठ ठहराया गया है । मानसकार ने भक्तिशास्त्र के अनुरूप पराभक्ति को ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य माना है । भक्तिशास्त्र में पराभक्ति की श्रेष्ठता के अनेक कारण बताए गए हैं - जैसे भेद भावना का अभाव, लोकमंगल की भावना आदि । ये सब मानस में भी आए हैं । वर्ण धर्म के अनन्य समर्थक होते हुए भी तुलसी ने मानस के भक्तों को जाति भेद आदि के ऊपर उठाया है । क्षत्रिय कुमार भरत को निषाद राज गुह का आलिंगन करते दिखाना भक्ति के भेदभाव राहित्य का अच्छा नमूना है । तुलसी ने भरत की भक्ति के प्रभाव से सदाचार की प्रतिष्ठा, दोषों का नाश आदि दिखाकर लोकमंगल संपन्न होने का चित्र खींचा है । यह भी भक्ति की श्रेष्ठता प्रमाणित करती है ।

इस प्रकार, इस विश्लेषण से सिद्ध होता है कि रामचरितमानस में प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप, भक्ति के प्रकार, भक्ति साधनाएँ तथा भक्ति का महत्व भक्तिशास्त्र के सिद्धांतों के सर्वथा अनुकूल हैं । भक्ति से संबंधित समस्त विषयों की समग्र मीमांसा करनेवाले भक्तिशास्त्रीय ग्रंथों के प्रतिपाद्य से मानस की एतद्विषयक चर्चा अद्भुभ साम्य रखती है । भक्तिशास्त्र के रचयिता आचार्यों तथा मानसकार की अनुभूतियों की समानता ही इस अद्भुत साम्य का मूल कारण प्रतीत होता है । महाकाव्य होने के कारण मानस में भक्ति से संबंधित तत्वों के प्रतिपादन में भक्तिशास्त्र के ग्रंथों की अपेक्षा अधिक सरसता आयी है । अतः मानस के अध्ययन से भक्ति की सैद्धान्तिक बातें काव्य रस के माधुर्य से युक्त होव सब के मन-मस्तिष्क में सहज ही प्रवेश कर पाती हैं ।

संदर्भ ग्रंथ सूची

संदर्भ ग्रंथ - सूची

संस्कृत

1. अद्भुतरामायणम्
2. अध्यात्मरामायणम्
3. उपदेशसारम्
4. ऋग्वेदः
5. कठोपनिषद्
6. केनोपनिषद्
7. गीतगोविन्दम्
8. छान्दोग्योपनिषद्
9. नाट्यशास्त्रम्
10. नारद भक्तिसूत्राणि
11. निरुक्तम्
12. नीतिशतकम्
13. पद्मपुराणम्
14. पातंजलयोगसूत्राणि
15. बृहदारण्यकोपनिषद्
16. भक्तिरत्नावली
17. भक्तिरसामृतसिंधु
18. भक्तिरसायनम्
19. महाभारतम्
20. मुकुन्दमाला

21. रघुवंशम्
22. वाल्मीकीरामायणम्
23. विवेकचूडामणिः
24. विष्णुसहस्रनामं शांकरभाष्यम्
25. शिक्षाष्टकम्
26. शांडिल्य भक्तिसूत्राणि
27. शांडिल्य भक्तिसूत्राणि स्वप्नेश्वरभाष्यम्
28. शिवमानसपूजा
29. श्रीकृष्णकर्णामृतम्
30. श्रीमद्देवीभागवतम्
31. श्रीमद् भगवद्गीता
32. श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्यम्
33. श्रीमद् भगवद्गीता श्रीधरीयसुबोधिनी
34. श्रीमद् भागवतम्
35. श्रीमन्नारायणीयम्
36. श्वेताश्वतरोपनिषद्
37. सुभाषितरत्नभाण्डागारम्
38. सौन्दर्यलहरी
39. स्कन्दपुराणम्
40. स्तोत्ररत्नम्

हिन्दी

41. कबीर ग्रंथावली – सं. पारसनाथ तिवारी
हिन्दी परिषद्
प्रयाग विश्वविद्यालय, सन् 1961.

42. कबीर दोहावली – दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा
मद्रास
सन् 1959.

43. कबीर वचनावली – सं. अयोध्यासिंह उपाध्याय "हरिऔध"
नागरी प्रचारिणी सभा
काशी, सं. 2003 वि.

44. कल्याण कुंज - 2 – हनुमान प्रसाद पोद्दार
गीता प्रेस
गोरखपुर, सं. 2029 वि.

45. गीता अवगाहन – नागराज राव (अनु. रामेश्वर प्रसाद मालवीय)
प्रभात प्रकाशन
दिल्ली, सन् 1990.

46. गीताप्रवचन – विनोबा (अनु. हरिभाऊ उपाध्याय)
सर्व सेवा संघ,
राजघाट, वाराणसी
सन् 1964.

47. गीता माता – महात्मागांधी
सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली, सन् 1977.

48. गोस्वामी तुलसीदास – रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा
वाराणसी, सं. 2022 वि.

49. गोस्वामी तुलसीदास की समन्वय साधना – ब्योहार राजेन्द्र सिंह
नागरी प्रचारिणी सभा
काशी
सं. 2026 वि.

50. गोस्वामी तुलसीदास जीवन: दर्शन : साहित्य – रामदत्त भरद्वाज
भारतीय साहित्य मंदिर
दिल्ली, सन् 1962.

51. चैतन्य चरितावली खंड-5 – प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
संकीर्तन भवन
धार्मिक न्यास ट्रस्ट
प्रयाग, सं. 2034 वि.

52. तुलसी काव्य मीमांसा – उदयभानु सिंह
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली, सन् 1966.

53. तुलसी ग्रंथावली-दूसरा खंड – सं. रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा
वाराणसी,
सं. 2015 वि.

54. तुलसी दर्शन – बलदेव प्रसाद मिश्र
हिन्दी साहित्य सम्मेलन
प्रयाग, सन् 1967.

55. तुलसीदास की कारयित्री प्रतिभा का अध्ययन - श्रीधर सिंह
हिन्दी प्रचारक प्रकाशन
वाराणसी
सन् 1968.

56. तुलसीदास जीवनी और विचारधारा - राजाराम रस्तोगी
अनुसंधान प्रकाशन
कानपुर
सं. 2020 वि.

57. तुलसीदास विभिन्न दृष्टियों का परिप्रेक्ष्य - सं. गोपीनाथ तिवारी
विश्वविद्यालय प्रकाशन
वाराणसी, सन् 1973.

58. दिव्य प्रेम नारदभक्तिसूत्र - स्वामी चिन्मयानन्द
(अनु. श्रीमती शीला शर्मा)
सेन्ट्रल चिन्मय मिशन ट्रस्ट
हिन्दी प्रकाशन विभाग
कानपुर, सन् 1984.

59. प्रेम दर्शन - हनुमान प्रसाद पोद्दार
गीता प्रेस
गोरखपुर, सं. 2049 वि.

60. भक्तमाल (कल्याण भक्तिपरितांकान्तर्गत) - नाभादास
गीता प्रेस
गोरखपुर, सं. 2049 वि.

61. भक्ति आन्दोलन और साहित्य - जार्ज. एम.
प्रगति प्रकाशन
आगरा
सन् 1978.

62. भक्ति आन्दोलन का अध्ययन - रतिभानु सिंह नाहर
किताब महल
इलाहाबाद

63. भक्ति का विकास - मुंशी राम शर्मा
चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी
सन् 1958.

64. भारतीय साधना और संत तुलसी - हर स्वरूप माथुर
साहित्य निकेतन
कानपुर
सन् 1965.

65. भारतीय साहित्य कोश - सं. नगेन्द्र
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नयी दिल्ली
सन् 1981.

66. मध्यकालीन काव्य संग्रह - सं. विनयकुमार
भारती भवन
पटना, सन् 1977.

67. मीरा पदावली - सं. श्रीमती विष्णुकुमारी श्रीवास्तव "मंजु"
हिन्दी भवन
लाहौर, सन् 1944.

68. रसखान ग्रंथावली - सं. देशराजसिंह भाटी
अशोक प्रकाशन
दिल्ली
सन् 1982.

69. रसखान रचनावली – सं. विद्यानिवास मिश्र
वाणी प्रकाशन
दिल्ली
सन् 1985.

70. रामचरितमानस – गोस्वामी तुलसीदास
गीता प्रेस
गोरखपुर
सं. 2020 वि.

71. रामचरितमानस में भक्ति – सत्यनारायण शर्मा
सरस्वती पुस्तक सदन
आगरा
सन् 1970.

72. विनय पत्रिका – गोस्वामी तुलसीदास
गीता प्रेस
गोरखपुर
सं. 2045 वि.

73. श्रीमद् भागवतमहापुराण
हिन्दी व्याख्या पहला खंड – गीता प्रेस
गोरखपुर
सं. 2040 वि.

74. सूर और उनका साहित्य – हरवंशलाल शर्मा
भारत प्रकाशन मंदिर
अलीगढ
सं. 2029 वि.

75. सूरदास – रामचन्द्र शुक्ल
सरस्वती मंदिर
बनारस, सन् 1950.

76. सूरसागर दूसरा खंड - सं. नन्ददुलारे वाजपेयी
नागरी प्रचारिणी सभा
वाराणसी
सं. 2018 वि.

77. हिन्दी साहित्य उद्भव और विकास - हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली
सन् 1988.

78. हिन्दी साहित्य एक परिचय - त्रिभुवन सिंह
हिन्दी प्रचारक संस्थान
वाराणसी
सन् 1968.

79. हिन्दी साहित्य का अतीत-1 - विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
वाणी प्रकाशन
नयी दिल्ली

80. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास - रामकुमार वर्मा
रामनारायण लाल बेनीमाधव
इलाहाबाद
सन् 1958.

81. हिन्दी साहित्य का इतिहास - रामचन्द्र शुक्ल
नागरी प्रचारिणी सभा
वाराणसी
सं. 2025 वि.

82. हिन्दी साहित्य का इतिहास - लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय
लोकभारती प्रकाशन
इलाहाबाद
सन् 1981.

83. हिन्दी साहित्य की भूमिका - हज़ारी प्रसाद द्विवेदी
राजकमल प्रकाशन
नयी दिल्ली
सन् 1979.

84. हिन्दी साहित्य कोश भाग-1 - सं. धीरेन्द्र वर्मा
ज्ञानमंडल लिमिटेड
वाराणसी
सन् 1985.

मलयालम

85. नारदभक्तिसूत्रविवृति - स्वामी सिद्धिनाथानन्द
श्रीरामकृष्णाश्रम
ट्रिच्चूर
सन् 1985.

86. भक्तिशास्त्रम् - वेल्लोट्टु करुणाकरन नायर
श्रीरामकृष्णाश्रम
ट्रिच्चूर
सन् 1988.

अंग्रेज़ी

87. Aphorisms on the Gospel of Divine Love - Swami Tyagisanda
Sri Ramakrishna Math
Madras, 1983.

88.A short History of Sanskrit Literature - T.K.Ramachandra Aiyar
R.S.Vadhyar and Sons
Palghat, 1984.

89. Bhagavad Gita As It Is - SwamiBhaktivedanta Prabhupada
Collier Macmillan Publishers
London, 1974.

90. Bhakti Ratnavali - Commentory by Swami Tapasyanand
Sri Ramakrishna Math
Madras, 1979.

91. Complete works of Swami Vivekananda Vol.I - Advaita Ashrama
Calcutta, 1989.

92. Complete works of Swami Vivekananda Vol.III - Advaita Ashrama
Calcutta
1989.

93. Complete works of Swami Vivekananda Vol.V - Advaitra Ashrama
Calcutta
1989.

94. Cultural Heritage of India Vol.II - The Ramakrishna Mission
Institute of culture
Calcutta, 1962.

95. Essence of Yoga - Swami Sivananda
The Divine Life Society
Sivananda Nagar
1982.

96. Gems of Truth Vol.II - Jayadayal Goyandka
Gita Press
Gorakhpur, 1994.

97. In The Vision of God - Swami Ramdas
Anandashram
Kanhangad.

98. Narad Bhakti Sutras - Commentory by
Swami Chinmayananda
Chinmaya Publication Trust
Madras, 1979.

99. Puja Tattwa - Gopinath Kaviraj
[Tr. Omkar Nath Muttoo]
Omkarnath Muttoo
Varanasi, 1976.

100. Ramakrishna As We Saw Him- Ed. Swami Chetanananda
Advaita Ashrama
Calcutta, 1992.

101. Sandilya Bhakti Sutras with Swapneswara Bhasya - English Translation by
Swami Harshananda
University of Mysore, 1976.

102. The Nectar of Devotion - Swami Bhaktivedanta Prabhupada
The Bhaktivedanta Book Trust
Los Angeles, 1970.

103. Uddhava Gita - Commentory by
Swami Madhavananda
Advaita Ashrama
Calcutta, 1978.

पत्रिकाएँ

कल्याण - नवंबर 1994
कल्याण पुराणकथाङ्क
कल्याण भक्तचरिताङ्क
कल्याण भक्ति अंक

G 5627

COCHIN UNIVERSITY